कलाप्रेमी, साहित्यानुरागी, देशभक्त

बन्धुवर

सेठ रतन लाल जैन को

सादर सप्रेम

प्रकाशक—
राजेन्द्र पब्लिशिंग हाउस,
कंसगेट आगरा।

प्रथम संस्करण
११००
मूल्य ३)

मुद्रक—
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बागमुजफ्फरखाँ, आगरा।

कलाप्रेमी, साहित्यानुरागी, देशभक्त

बन्धुवर

सेठ रतन लाल जैन को

सादर सप्रेम

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक 'सूरदास और उनका साहित्य' में सभी उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया गया है—इसलिए इस ओर के सभी विद्वान् लेखकों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। अगर मेरी यह पुस्तक सभी के उपयोग में आ सकी तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा।

४१४२/१ गोकुलपुरा, कंसगेट,
आगरा।
१० अगस्त १९५३

शान्तिस्वरूप गौड़

विषय-सूची

—?❀:०:❀?—

१

जीवनवृत्त

शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक वैष्णव आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र तथा उनके उत्तराधिकारी गुसाईं विट्ठलनाथजी ने जिन आठ महात्मा कवियों को लेकर जिस अष्टछाप नामक मण्डली की स्थापना की थी, ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ महाकवि सूरदास भी उन आठ में से एक थे। अष्टछाप के कोष्ठकमें अवस्था की दृष्टि से सूरदास अवश्य द्वितीय स्थान परहैं, परन्तु कविता के माप-दण्ड से वह उन आठों में सर्वप्रथम हैं। इसलिए सूरदास को अष्टछाप नामक मण्डली के मुकट की मणि कह कर सम्मानित किया जाता है। वास्तव में हिन्दी के वैष्णव-काव्य की समस्त विशेषताएँ सूरदास की कविता में प्रचुर मात्रा में दीख पड़ती हैं। वैसे सूरदास की भक्ति सख्य-भाव की मानी जाती है; परन्तु 'सूरसागर' में सख्य के साथ-साथ वात्सल्य, माधुर्य, दास्य और शांत भाव की भक्ति के भी अनेक पद दृष्टिगोचर होते हैं। यही कारण है जो सूरदास हिन्दी के समस्त भक्ति-साहित्य का प्रतिनिधित्व कर-सकने में पूर्ण समर्थ हैं। वैसे हिंदी में कृष्ण-काव्य-धारा को प्रवाहित करने का श्रेय मैथिल-कवि विद्यापति को है; परन्तु उसे पूर्ण-रूपेण विकसित करने का गौरव सूरदास को। कृष्ण-भक्तिको लोकप्रिय बनाने में सूरदास की कविता ने जो कौशल प्रदर्शित किया है वह अनुमान से परे की वस्तु है।

मगर हमारे बीच सूरदास और उनकी कविता का इतना मान होते हुए भी उनके जीवन का इतिहास अधिकांश में अन्धकारमय है—और यह हमारे लिए वास्तव में दुख की बात है। इसीलिये इस आवश्यकता की महत्ता को स्वीकार कर हिंदी के अनेक विद्वान् इस ओर अग्रसर हुये हैं। उन्होंने सूरदास के काव्य का विशेष रूप से गम्भीर अध्ययन कर अन्तःसाक्ष्य और वहिःसाक्ष्यों के आधार पर इस महाकवि के जीवन के सम्बन्ध में कुछ बहुत ही अधिकार पूर्ण ढङ्गसे कहने का साहस किया है। मगर अभी भी उनका प्रयत्न अधूरा है, इसलिये उनके इस कथन को निर्भ्रान्त नहीं कहा जा सकता।

परन्तु वह काम चलाऊ अवश्य है। इसलिए उसके आधार पर कह सकते हैं, सूरदास का जन्म दिल्ली के निकट सीहीं नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में सं० १५३५ की वैशाख शुक्ला ५ को हुआ। वह अपने चार भाइयों के बीच सबसे छोटे और जन्म से ही अन्धे थे। अन्धे होने के कारण उन्हें अपने माता-पिता का स्वाभाविक लाड़-प्यार बहुत ही कम प्राप्त हुआ—इसके विपरीत निर्धनता के कारण अपने माता-पिता और भाइयों के द्वारा वह तिरस्कृत अवश्य हुये। शायद इसीलिए 'भाव प्रकाश' के लेखक हरिराय जी ने लिखा है—कि सूरदास अपनी अल्पायु में ही विरक्त होकर घर से निकल गए थे। फिर वह अपने ग्राम के समीप के एक ग्राम में तालाब के किनारे पर उगे हुए एक पीपल के वृक्ष के नीचे रहने लगे। वहाँ पर निवास करते हुये वह लोगों को शकुन बतलाते और गायन विद्या का अभ्यास करते। कहते हैं, उनकी बतलाई हुई प्रत्येक बात अक्षरशः सत्य होती थी—जिससे उस गाँव और पास और दूर के गाँव के निवासियों में उनका बहुत मान था। [illegible]दास का कंठ-स्वर बहुत ही मधुर था, जिसके कारण उनकी [illegible]सिद्धि और भी अधिक हुई थी। उस समय उनकी अवस्था केवल अठारह वर्ष की थी; मगर लोग उनके प्रति अपनी श्रद्धा को व्यक्त

करने के लिए उन्हें 'स्वामी जी' कह कर सम्बोधित करने लगे थे। अनेक मनुष्य उनके शिष्य भी हो गये थे। अपने शिष्य-सेवकों की भेंट-स्वरूप उनके पास धन भी यथेष्ट मात्रा में इकट्ठा हो गया था।

मगर धन एकत्रित करना सूरदास का लक्ष्य नहीं था—और एक रात्रिको उन्होंने सोचा-भगवान् के भजन के लिये मैं तो विरक्त होकर घरसे निकला था; मगर देखता हूँ, मैंतो फिर यहाँ मोह-माया में फँस गया। अगर इसका त्याग मैंने शीघ्र ही नहीं किया तो यह माया मेरे वैराग्य भाव को नष्ट कर, पूर्णरूपेण मुझे अपने वश में कर लेगी। मेरा लक्ष्य मुझसे दूर हट जायेगा और मेरा जीवन निष्फल हो जायेगा। इसलिए मुझे यहाँ से तुरन्त ही हटना होगा।

और वह वहाँ से अविलम्ब दूर चले आये। माया का मोह-जाल छूटा तो उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण मथुरा में निवास करना चाहा; मगर मथुरा तीर्थ स्थान है। वहाँ पर अगणित व्यक्ति सर्वदा ही आते-जाते रहते हैं, इसलिए उन्होंने अपने इस विचार को त्याग दिया। उन्होंने सोचा, यहाँ पर माया उन्हें और भी शीघ्रता से ग्रसने का प्रयत्न करेगी—इसलिए उन्होंने किसी एकान्त स्थान में रहने का निश्चय किया। और वह मथुरा और आगरा के बीच गऊघाट नामक स्थान पर आकर रहने लगे। गऊघाट पर बसने से पूर्व वह कुछ दिनों तक रुनकता नामक स्थान पर भी रहे। मथुरा-आगरा के बीच यह रुनकता नामक ग्राम आज भी विद्यमान् है। लोगों का विश्वास है, आज का यह रुनकता ही महाभारत के समय रेणुका-स्थल कहलाता था। गऊघाट इसी रेणुका-स्थल से लगभग तीन मील पश्चिम की ओर यमुना नदी के तट पर था। आज से लगभग पन्द्रह-बीस वर्ष पूर्व प्रकाशित होने वाली पुस्तकों में इसी रुनकता ग्राम को सूरदास की जन्मभूमि लिखा जाता था; मगर प्रमाणों के अभाव में यह कथन अब असत्य साबित हो चुका है। अब के विद्वान् दिल्लीके निकटवर्ती सीहीं नामक स्थान को ही उनका जन्म-स्थान मानने लगे हैं।

गऊघाट पर सूरदास लगभग दस-बारह वर्ष तक रहे। इस स्थान को सूरदास की अगर तपस्या - भूमि कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वास्तव में, इसी स्थान पर रहकर उन्होंने संगीत और काव्य - कला का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया — साथ ही, शास्त्र - पुराणादि विविध धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी! इसीलिये उनकी रचनाओं में उनके गंभीर ज्ञान और प्रकांड पांडित्य की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। साथ ही ब्रजभाषा और संस्कृत विषयक उनकी विद्वता के दर्शन भी सहज ही में हो जाते हैं। मगर जब हम यह सोचते हैं, जन्मांध सूरदास के लिये यह सब किस प्रकार संभव होसका तो आश्चर्य के सागर में डूब-सेरहतेहैं। इस सम्बन्ध में 'भाव प्रकाश' भी हमारी सहायता नहीं करता और न 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' ही! वार्ता में तो इसे सूरदास के साथ प्रभु की महती कृपा कहकर ही स्वीकार किया गयाहै। मगर वार्ता के इस कथन से हमारे मन की तुष्टि नहीं हो पाती। महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षित होने के पूर्व ही सूरदास अपने अनेक विनय के पदों और गायन के आधार पर काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इस लिए यह अभी एक प्रश्न ही है, जिसका उत्तर शायद भविष्य ही दे पायेगा। मगर अनुमान कर इस सम्बन्ध में अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है—विद्वानों का सत्सङ्ग कर ही सूरदास ने इन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया होगा। ग्रहण-शक्ति उनकी विलक्षण रही होगी, जिसके बल पर वह इन विद्याओं पर सहज ही में अपना अधिकार जमा सके होंगे।

सूरदास की रचनाओं और लोगों पर उनके प्रभाव को देखकर ऐसा ज्ञान पड़ता है, मानो इस संसार में सूरदास का जन्म ही इसलिये हुआ था कि वह महाकवि बनें और अपनी इस असाधारण प्रतिभा से लोगों को प्रभावित करें। गऊघाट पर अपने निवास के दिनों में उन्होंने ज्ञान, वैराग्य और विनय सम्बन्धी अनेक पदों की रचना की। धार्मिक भावना को जागृत करने केलिये

उन्होंने अपने उन पदों को भक्ति-रस में सनकर अनेकों बार गाया भी—और लोगों पर उनका समुचित प्रभाव भी हुआ। अनेक व्यक्ति उनकी ओर आकर्षित भी हुये और उनके शिष्य हो गये।

वास्तव में सूरदास प्रतिभा-सम्पन्न एक असाधारण व्यक्ति थे। जहाँ भी वह रहते, उनकी अपूर्व कवित्व-शक्ति तथा शास्त्रोक्त सङ्गीत-लहरी से आकर्षित होकर व्यक्ति बरबस उनकी ओर खिंचे चले आते थे। उनके दर्शन कर स्वयं को धन्य-भाग मानने लगते थे। यही कारण है जो वह अपनी अल्पायु में ही अनेकों के गुरू और पूज्य बन गये थे। मन की पवित्रता आदि अन्य अनेक गुणों के अतिरिक्त उनमें काव्य और सङ्गीत का ऐसा अपूर्व गुण था, जिसके कारण महाप्रभु वल्लभाचार्य को भी उनकी ओर आकर्षित होना पड़ा और वह उन पर मुग्ध होकर रह गये।

सम्वत् १५६७ में जब महाप्रभु अडैल से ब्रज को चले, तभी वह गऊघाट में भी पधारे। सूरदास और महाप्रभु के मिलन को 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में इस प्रकार लिपि-बद्ध किया गया है—

'सो एक समय श्री आचार्य महाप्रभु अड़ेल से ब्रज को पांव धारे...... सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हुतौ सो सूरदास जी स्वामी हैं आप सेवक करते सूरदास जी भवदीय है गान बहुत आछो करते ताते बहुत लोग सूरदास जी के सेवक भये हुते सो श्री आचार्य जी महाप्रभु गऊघाट ऊपर उतरे सो सूरदास जी के सेवक देख के सूरदास जी सों जाय कही सो आज श्री आचार्य्य जी महाप्रभु आय पधारे हैं जिनने दक्षिण में दिग्विजय कियो है सब पण्डितन को जीते हैं........ तब सूरदास जी अपने स्थल में आयके श्री आचार्य्य जी महाप्रभु के दर्शन को आये तब श्रीआचार्य्य जी महाप्रभु ने कह्यौ जो सूर आवौ बैठो तब सूरदासजी श्री आचार्य्य जी महाप्रभून को दर्शन करिकै आगे आइ बैठे तब श्री आचार्य्यजी महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर कछु भगवद् यश वर्णन करो तब सूरदास जी ने कही जो आज्ञा तब सूरदास जी ने श्रीआचार्य्य

महाप्रभून के आगे एक पद गायो ...... सो सुनिके श्रीआचार्य्य जी महाप्रभून ने कह्यो जो सूर ह्वै के ऐसो काहे को घिघियात है कछू भगवन् लीला वर्णन करि तब सूरदास जी ने कह्यौ जो महाराज हौं तो समुझत नाहीं तब श्री आचार्य्य जी महाप्रभून ने कह्यौ कि जाय स्नान कर आवौ हम तो को समुझावेंगे तब सूरदास जी स्नान कर आये तब श्री महाप्रभु जी ने प्रथम सूरदास जी को नाम सुनायो पाछे समर्पण करवाई और दशम स्कन्ध की अनुक्रमणिका-कही सो ताते सब दोष दूर भये तातो सूरदास जी को नवधा भक्ति सिद्धि भई तब सूरदास जी ने भगवत लीला वर्णन करि अनुक्रमणिका ते सम्पूर्ण लीला फुरी सो क्यों जानिये.........पाछे सूरदास जी ने बहुत पद किये पाछे श्री आचार्य्य महाप्रभून ने सूरदास जी को पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम सुनायो तब सूरदास जी को सम्पूर्ण भागवत स्फूर्तना भई पाछे जो पद किये सो भागवत प्रथम स्कन्ध ते द्वादश स्कन्ध पर्य्याप्त किये...श्रीआचार्य्य जी महाप्रभून गऊघाट ऊपर तीन दिन बिराजे पाछे फिर व्रज को पांव धारे तब सूरदासजी हू श्री आचार्य्य जी महाप्रभून के साथ व्रजको आये तब श्रीमहाप्रभु जी अपने श्रीमुख सों कह्यो जो सूरदासजी श्री गोकुल को [illegible]र्शन करो सो सूरदास जी श्री गोकुल को दण्डवत करी सो दण्डवत [illegible]रत मात्र श्री गोकुल की बाल लीला सूरदास जी के हृदय में फुरी और सूरदास जी के हृदय में प्रथम श्री महाप्रभू ने सकल लीला श्री भागवत की स्थापी है ताते दर्शन करत मात्र सूरदास जी को श्री गोकुल की [illegible]ला स्फूर्तना [illegible] सूरदास जी ने मन में विचार्यो [illegible] ल की [illegible] को वर्णन करि के श्री आचा[illegible] [illegible] आगे [illegible] ...तब श्री महाप्रभू जी [illegible] श्री [illegible] हाँ और तो सब सेवा [illegible] तन [illegible] ताते अब [illegible] .... द[illegible]

के पूर्व ही सूरदास काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। मगर महाप्रभु का शिष्यत्व ग्रहण कर लेने के पश्चात् उनकी इस कीर्त्ति में सुगन्ध उत्पन्न हो गई। वास्तव में अपने दीक्षा-गुरु महाप्रभु की आज्ञा से उन्होंने श्रीकृष्ण की बाल लीला के सम्बन्ध में जिस साहित्य का सृजन किया है, वह विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। उनके उस साहित्य के अनूठेपन को संसार का कोई भी कवि आज तक छू तक नहीं सका है।

सम्वत् १५६७ में जिस दिन उन्होंने गऊघाट का त्याग किया, उस समय वह केवल इकत्तीस वर्ष के थे। महाप्रभु गऊघाट पर तीन दिन तक निवास करने के पश्चात् गोकुल को पधारे और अपने योग्य शिष्य सूरदास को अपने साथ लेते गये। इस प्रकार कुछ दिनों तक सूरदास महाप्रभु के साथ गोकुल में ही रहे। गोकुल में रहकर उन्होंने महाप्रभु के श्रीमुख से भागवत के जिस प्रकरण की भी व्याख्या सुनी, उसी पर पदों की रचना की और अपने उन सरस पदों को प्रतिदिन महाप्रभु को गाकर सुनाया। फिर, वह अपने गुरु के साथ गोवर्धन में आये और आचार्य-प्रवर की आज्ञानुसार श्री नाथ जी के सम्मुख भक्तिपूर्ण अपने पदों का गायन करने लगे।

उन दिनों श्रीनाथ जी एक छोटे से मन्दिर में विराजमान थे। उनका वह विशाल मन्दिर जिसे वल्लभाचार्य की प्रेरणा से पूरनमल खत्री ने सं० १५५६ की वैशाख शुक्ला ३ को बनवाना प्रारम्भ किया था, धन के अभाव में अधूरा बना पड़ा था। सूरदास के पहुँचने पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी को उस अधूरे बने पड़े मन्दिर में ही स्थापित कर उन्हें श्रीनाथ जी का प्रधान कीर्तिनिया नियुक्त किया। कई वर्षों के पश्चात् फिर श्रीनाथ जी का यह मन्दिर सं० १५७६ की वैशाख शुक्ला ३ को पूर्ण हुआ। सूरदास अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक इसी मन्दिर में भगवान् के प्रधान कीर्तिनिया के पद पर रहकर श्रीनाथ जी के प्रति अपनी भक्ति के पद रूपी पुष्पों

महाप्रभून के आगे एक पद गायो ...... सो सुनिके श्रीआचार्य्य जी महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर ह्वै के ऐसो काहे को घिघियात है कछू भगवन् लीला वर्णन करि तब सूरदास जी ने कह्यौ जो महाराज हौं तो समुझत नाहीं तब श्री आचार्य्य जी महाप्रभून ने कह्यौ कि जाय स्नान कर आवौ हम तो को समुझावेंगे तब सूरदास जी स्नान कर आये तब श्री महाप्रभु जी ने प्रथम सूरदास जी को नाम सुनायो पाछे समर्पण करवाई और दशम स्कन्ध की अनुक्रमणिका-कही सो ताते सब दोष दूर भये तातो सूरदास जी को नवधा भक्ति सिद्धि भई तब सूरदास जी ने भगवत लीला वर्णन करि अनुक्रमणिका ते सम्पूर्ण लीला फुरी सो क्यों जानिये.........पाछे सूरदास जी ने बहुत पद किये पाछे श्री आचार्य्य महाप्रभून ने सूरदास जी को पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम सुनायो तब सूरदास जी को सम्पूर्ण भागवत स्फूर्तना भई पाछे जो पद किये सो भागवत प्रथम स्कन्ध ते द्वादश स्कन्ध पर्य्याप्त किये...श्रीआचार्य्य जी महाप्रभून गऊघाट ऊपर तीन दिन विराजे पाछे फिर व्रज को पांव धारे तब सूरदासजी हू श्री आचार्य्य जी महाप्रभून के साथ व्रजको आये तब श्रीमहाप्रभु जी अपने श्रीमुख सों कह्यौ जो सूरदासजी श्री गोकुल को दर्शन करो सो सूरदास जी श्री गोकुल को दण्डवत करी सो दण्डवत करत मात्र श्री गोकुल की बाल लीला सूरदास जी के हृदय में फुरी और सूरदास जी के हृदय में प्रथम श्री महाप्रभू ने सकल लीला श्री भागवत की स्थापी है ताते दर्शन करत मात्र सूरदास जी को श्री गोकुल की बाललीला स्फूर्तना भई तब सूरदास जी ने मन में विचार्यो जो श्री गोकुल की बाललीला को वर्णन करि के श्री आचार्य्य जी महाप्रभून के आगे सुनाइये ...... तब श्री महाप्रभू जी अपने मन में विचारे जो श्रीनाथ जी के यहाँ और तो सब सेवा को मंडान भयो है पर कीर्तन को मंडान नहीं कियो है ताते अब सूरदास जी को दीजिये.........

इस प्रकार हम देखते हैं, महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने

के पूर्व ही सूरदास काफी ख्याति प्राप्ति कर चुके थे। मगर महाप्रभु का शिष्यत्व ग्रहण कर लेने के पश्चात् उनकी इस कीर्त्ति में सुगन्ध उत्पन्न हो गई। वास्तव में अपने दीक्षा-गुरू महाप्रभु की आज्ञा से उन्होंने श्रीकृष्ण की बाल लीला के सम्बन्ध में जिस साहित्य का सृजन किया है, वह विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। उनके उस साहित्य के अनूठेपन को संसार का कोई भी कवि आज तक छू तक नहीं सका है।

सम्वत् १५६७ में जिस दिन उन्होंने गऊघाट का त्याग किया, उस समय वह केवल इकत्तीस वर्ष के थे। महाप्रभु गऊघाट पर तीन दिन तक निवास करने के पश्चात् गोकुल को पधारे और अपने योग्य शिष्य सूरदास को अपने साथ लेते गये। इस प्रकार कुछ दिनों तक सूरदास महाप्रभु के साथ गोकुल में ही रहे। गोकुल में रहकर उन्होंने महाप्रभु के श्रीमुख से भागवत के जिस प्रकरण की भी व्याख्या सुनी, उसी पर पदों की रचना की और अपने उन सरस पदों को प्रतिदिन महाप्रभु को गाकर सुनाया। फिर, वह अपने गुरू के साथ गोवर्धन में आये और आचार्य-प्रवर की आज्ञा-नुसार श्री नाथ जी के सम्मुख भक्तिपूर्ण अपने पदों का गायन करने लगे।

उन दिनों श्रीनाथ जी एक छोटे से मन्दिर में विराजमान थे। उनका वह विशाल मन्दिर जिसे वल्लभाचार्य की प्रेरणा से पूरनमल खत्री ने सं० १५५६ की वैशाख शुक्ला ३ को बनवाना प्रारम्भ किया था, धन के अभाव में अधूरा बना पड़ा था। सूरदास के पहुँचने पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी को उस अधूरे बने पड़े मन्दिर में ही स्थापित कर उन्हें श्रीनाथ जी का प्रधान कीर्तिनिया नियुक्त किया। कई वर्षों के पश्चात् फिर श्रीनाथ जी का यह मन्दिर सं० १५७६ की वैशाख शुक्ला ३ को पूर्ण हुआ। सूरदास अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक इसी मन्दिर में भगवान् के प्रधान कीर्तिनिया के पद पर रहकर श्रीनाथ जी के प्रति अपनी भक्ति के पद रूपी पुष्पों

की भेंट चढ़ाते रहे।

गोवर्धन आ पहुँचने पर सूरदास ने परासोली को अपना स्थायी निवास-स्थान बनाया। फिर, जीवन के अन्तिम दिन तक वह इसी स्थान पर रहे। परासोली में रहकर ही उन्होंने अपने अधिकांश पदों की रचना की। उनका नियम था, वह परासोली से नित्य गोवर्धन जाकर श्रीनाथ जी के सम्मुख रोज़ अपने नये पदों के द्वारा भगवान् का कीर्तन किया करते थे। यही कारण है जो उन्होंने सहज ही में हज़ारों पदों की रचना कर डाली और बाद में उनके इन्हीं हज़ारों पदों का संग्रह 'सूरसागर' के नाम से विख्यात हुआ।

वास्तव में सूरदास महाप्रभु को भगवान् के वरदान के रूप में मिले थे। वल्लभाचार्य को अपने धर्म के प्रचार के निमित्त एक ऐसे ही गुणी गायक और प्रतिभा-सम्पन्न कवि की आवश्यकता थी और उनकी इस आवश्यकता की पूर्ति सूरदास ने सही अर्थों में की। यही कारण है जो वल्लभाचार्य की शिष्य-मण्डली में सूरदास का सबसे अधिक मान था। वास्तव में, पुष्टि सम्प्रदाय के लिये सूरदास के पदों और उनके गायन ने वह कार्य किया था, जो एक प्रकार से दुर्लभ ही कहा जा सकता है। इस भक्त कवि और गायक ने वल्लभाचार्य के धर्म के मार्ग को ऐसा मनोरम और आनन्दप्रद बना दिया है कि उस ओर व्यक्ति का मन अनायास ही आकर्षित हो हो जाता है। यही कारण है जो सैकड़ों वर्षों के बाद आज भी हज़ारों-लाखों की संख्या में सैकड़ों मील की दूरी से लोग श्रीनाथ जी के दर्शनों के निमित्त व्रजभूमि में प्रतिवर्ष आते हैं और सूरदास के पदों का साक्षात्कार कर स्वयं को भाग्यशाली समझते हैं।

वल्लभाचार्य और गोपीनाथ के पश्चात् जब विट्ठलनाथ जी पुष्टि-सम्प्रदाय के आचार्य हुए तो उन्होंने सं० १६०२ में अष्टछाप की स्थापना की। अष्टछाप नामक इस मण्डली में सम्प्रदाय के आठ सर्वश्रेष्ठ कवि रक्खे गये, जिसमें सूरदास इन आठों में सर्वोपरि

थे। इस मण्डली में चार वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे और चार विट्ठलनाथ जी के। अवस्था की दृष्टि से इनमें कुम्भनदास सबसे बड़े थे और नन्ददास सबसे छोटे। सूरदास कुम्भनदास के पश्चात् द्वितीय स्थान पर! जब वह इस मण्डली में सम्मिलित हुए—उस समय उनकी अवस्था ६७ वर्ष की थी। मगर कवि होने के नाते इस मण्डली में उनको प्रथम स्थान प्राप्त था। इसी सत्य को दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं—सूरदास वास्तव में अष्टछाप के सर्वस्व थे।

सूरदास एकनिष्ठ रहने वाले व्यक्ति थे। उस समय के भूपति अकबर के साथ अपनी भेंट के समय उन्होंने अपनी एकनिष्ठता का बड़ा अच्छा परिचय दिया है। 'मूल चौरासी वार्त्ता' में अकबर के साथ उनके मिलन की कथा आई है। और 'अष्टसखान की वार्त्ता' में उनके मिलन की इस कथा को विस्तार के साथ लिखा गया है। इस सम्बन्ध में वहाँ पर लिखा है कि अपने गायक तानसेन के मुख से सूरदास का एक पद सुनकर बादशाह अकबर के मन में सूरदास से मिलने की इच्छा का उदय हुआ था और बादशाह अकबर के साथ सूरदास की यह भेंट मथुरा नगरीमें ही हुई थी। बादशाह के कहने पर सूरदास ने जिस'–मन रे तू कर माधौ सों प्रीत' नामक पद को गाया था, वह 'सूर पचीसी' के नाम से प्रसिद्ध है। वार्त्ता में लिखा है कि बादशाह उनके मुख से इस पद को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और तब उसने सूरदास से अपना यश-वर्णन करने के लिए कहा। मगर सूरदास तो अपने मन में श्रीनाथजी को स्थान दे चुके थे—उसमें अब जगह ही कहाँ थी, जहाँ वह अकबर को बिठा पाते और बादशाह को उत्तर देने की इच्छा से उन्होंने गाया—

नाहिन रह्यौ मन में ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और ?
चलत चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।

हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत-उत जाति ।।
कहत कथा अनेक ऊधो लोक लाभ दिखाय ।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिन्धु समाय ।।
स्याम गात, सरोज आनन, ललित अति मृदु हास ।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ।।

अकबर भी महान् था । निस्पृह और निर्लोभ किस्म के महात्मा सूरदास की इस स्पष्टोक्ति को सुनकर वह उनके प्रति कोई अन्य भाव अपने मन में नहीं लाया । इसके विपरीत वह उनकी एक-निष्ठता पर मन ही मन मुग्ध होकर रह गया । अन्त में, इस पद की अन्तिम पंक्ति को ध्यान में रखकर उसने सूरदास से पूछा—'सूरदास जी ! जब आपके नेत्र ही नहीं हैं तो उनके प्यासे मरने का फिर प्रश्न ही किस प्रकार उत्पन्न होता है ?' मगर सूरदास ने बादशाह के इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया । वह चुप ही रहे और कहते हैं कि अकबर की इस शङ्का का समाधान स्वयं ही हो गया ।

इस सम्बन्ध में एक बड़ी विचित्र-सी बात श्री रामरतन भटनागर ने अपनी 'सूर साहित्य की भूमिका' में लिखी है । उन्होंने लिखा है—'किंवदन्तियों से उनका अन्धा होना ही सिद्ध होता है । परन्तु अकबर के हृदय में जो बात उठी थी वही सूर-साहित्य के समालोचक के हृदय में भी उठती है । अकबर ने पूछा था "बिन देखे तुम उपमा देत हौ सो तुम कैसे देत हौ ।" सूरदास ने अनेक प्राकृतिक दृश्यों और रङ्गरूप के सम्बन्ध में उपमायें और उत्प्रेक्षायें कही हैं जो इतनी स्वाभाविक एवं वास्तविक हैं कि पूर्वानुभव के बिना उन्हें उपस्थित करना असम्भव था । उन्होंने प्रत्येक वस्तु का विशद और सूक्ष्म चित्रण किया है । जन्मांध कवि के लिये यह बात असम्भव प्रतीत होती है । इसके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ कवि ने नेत्र-हीनता का उल्लेख अपने पदोंमें किया है वहाँ वहाँ अपनी वृद्धावस्था का भी उल्लेख किया है । इन सब बातों पर विचार करते हुये यह अनुमान किया जा सकता है कि सूरदास जन्मांध नहीं थे । परन्तु

प्रौढ़ावस्था पार करते-करते वे नेत्र-विहीन हो गये।'

हमने बहुत पहले ही लिखा है, सूरदास जन्मांध थे—इसलिये श्री रामरतन भटनागर के उपर्युक्त शब्दों के उत्तर में इस समय हम केवल इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं—सूरदास की ग्रहण करने की शक्ति असीम और विलक्षण थी—साथ ही उनकी कल्पना-शक्ति अद्भुत और फलवती! फिर, भगवान की भी उन पर महती कृपा! तो, ऐसे विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न सूरदास के लिये स्वाभाविक और वास्तविक उपमायें और उत्प्रेक्षायें कह जाना असम्भव किस प्रकार हो सकता है। जब भगवान की कृपा से लँगड़े मनुष्य गिरि को सरलता पूर्वक लाँघ सकते हैं तो 'उसकी' कृपा से वास्तविक उपमायें और उत्प्रेक्षायें कह जाना एक साधारण सी बातही ठहरती है। और जब अनुभव देखने की क्रिया के अतिरिक्त अन्य अनेक साधनों से भी किया जा सकता है तो उस एक ही साधन पर इतना अधिक जोर देकर किसी सत्य की अवहेलना कर देने का अर्थ है—अपनी अल्प और अमित बुद्धि के कारण सत्य से विमुख होना। फिर, जो सूरदास अपने दीक्षा गुरू वल्लभाचार्य जी के मुख से भागवत के प्रकरणों की व्याख्या सुनकर ही समूचे भागवत को अपने शब्दों में लिपिबद्ध कर सकता है, वह क्या व्याख्या के बीच आई हुई उपमाओं को भी याद नही रख सकता—क्या अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति के सहारे वह इन सुनी हुई बातों को घटा-बढ़ा नहीं सकता। इसलिये हमें विश्वास है, अकबर की भाँति श्री रामरतन भटनागर भी अपनी इस शङ्का का समाधान स्वयं ही कर लेंगे। आत्मश्लाघा का कोई शब्द उनके मुख से न निकल जाये, इसलिये उस समय बादशाह के इस प्रश्न के उत्तर में नेत्र-विहीन सूरदास चुप रहे थे—अब गोलोकवासी सूरदास श्री रामरतन भटनागर के सम्मुख भी चुप हैं।

अकबर सं० १६१३ में राज्य-सिंहासन पर बैठा था। तानसेन सं० १६२१ में उसके दरबार में आया था। सं० १६२३ में गोसाईं

विट्ठलनाथ जी की अनुपस्थिति में उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरधर जी श्रीनाथ जी के स्वरूप को कुछ काल के लिये गोवर्धन से मथुरा ले आये थे। इसीलिये सूरदास परासोली से श्री नाथजी के सम्मुख कीर्त्तन करने के लिये मथुरा आया करते थे। उन्हीं दिनों अकबर भी मथुरा आया हुआ था। यह इतिहास-सिद्ध घटना है। उस समय सूरदास की कवित्त-शक्ति और गायन की कीर्त्ति चारों ओर फैली थी। अकबर कलानुरागी और सङ्गीत-प्रेमी था। इसलिये तानसेन की प्रेरणा से अकबर-सूरदास मिलन होना सम्भव है। इस घटना को अप्रमाणिक मानना कुछ उचित नहीं जान पड़ता।

यह हम पहिले ही लिख आये हैं, सूरदास एक विलक्षण प्रतिभा वाले व्यक्ति थे। मा-सरस्वती की उन पर महती कृपा थी। यह सत्य है, लीला-विषयक पदों की रचना उन्होंने पुष्टि-सम्प्रदाय में सम्मिलित होने के पश्चात् की; मगर विनय के अनेक पद वह गऊ घाट पर रहने के समय ही बना चुके थे। गऊघाट पर निवास करने के लिए वह शायद अठारह वर्ष की अवस्था में आये; मगर इससे पूर्व भी वह लोगों को कुछ गा-गाकर सुनाया करते थे। और इस कुछ को हम उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ मान सकते हैं—क्योंकि सूरदास को कभी भी किसी ने किसी अन्य कवि की रचना को गाते हुये नहीं सुना और इसका अर्थ है—सूरदास ने निश्चय ही १४-१५ वर्ष की अवस्था से कविता करना प्रारम्भ कर दिया होगा। वह सम्वत् १५३५ में उत्पन्न हुये और उनका स्वर्गवास सं० १६४० में हुआ। इस प्रकार उन्होंने १०५ वर्ष की आयु भी लम्बी पाई। अगर १०५ वर्ष में से उनके लड़कपन के १५ वर्ष निकाल दें—तो बड़ी सुविधापूर्वक कहा जा सकता है कि सूरदास ने ९० वर्ष तक श्रीनाथ जी के निमित्त मा-सरस्वती की आराधना की। और अपने इन ९० वर्षों में जो कुछ भी उन्होंने लिखा वह है भी बहुत। वास्तव में, इस बीच उन्होंने सहस्रों पदों की रचना की, जो 'सूरसागर' 'सूर-सारावली' और 'साहित्यलहरी' आदि में संग्रहीत हैं।

अपनी ३१ वर्ष की अवस्था में उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ली और तभी उन्होंने अपने दीक्षा-गुरू की आज्ञा से गऊघाट को छोड़ा। इसके पश्चात् कुछ दिनों तक वह वल्लभाचार्य के साथ गोकुल में रहे—फिर, गोवर्धन में और अन्त में उन्होंने अपना स्थायी निवास-स्थान परासोली को बनाया। गोवर्धन के निकट वाले इस ग्राम में उन्होंने चन्द्र सरोवर के समीप अपनी कुटी बनवाई। वार्त्ता में लिखा है कि वह श्रीनाथ जी के स्वरूप के साथ एक बार मथुरा और यदा-कदा गोकुल जाने के अतिरिक्त अपने स्थायी निवास-स्थान परासोली को छोड़कर कहीं कभी भी नहीं गये। परासोली वाली अपनी कुटिया में नित्य नूतन पदों की रचना और श्रीनाथ जी के मन्दिर में जाकर अपने उन पदों की सहायता से भगवान् की कीर्तन-सेवा करना ही अपने अन्त समय तक उनका लक्ष्य बना रहा। 'अष्टसखान की वार्ता' में एक स्थान पर लिखा है कि कुम्भनदास और परमानन्ददास के कारण जब उन्हें कुछ अवकाश मिल जाता तो वह नवनीतप्रिया जी के दर्शनों के निमित्त गोकुल जाना भी नहीं भूलते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं सूरदास का जीवन प्रारम्भ से ही परम पवित्र और कलानुरागी था और अपने अन्त समय तक वह उसी प्रकार का बना रहा। अपनी छोटी अवस्था में वैराग्य को धारण कर वह अपने घर से निकल पड़े थे और अपने अन्तिम समय तक उन्होंने उसका पालन किया! जन्मांध होने के कारण जन्मदात्री का दुलार उन्हें नहीं के बराबर मिला तो कला की देवी मा—सरस्वती ने उन्हें अपने अङ्क में स्थान दिया और सूरदास कृत-कृत्य हो गए। ससार से विरक्त हो गए तो प्रभु की सेवा का सौभाग्य उन्हें अनायास ही प्राप्त हो गया। और अपने दीक्षा-गुरू महाप्रभु वल्लभाचार्य की अनुकम्पा से उन्होंने अपने सुदीर्घ जीवन को अन्तिम क्षणों तक कला और प्रभु-सेवी बनाये रखने में तनिक सी भी भूल नहीं की।

फिर एक दिन अपना अन्तिम समय निकट जान वह श्रीनाथजी की मँगला-आरती के तुरंत बाद ही परासोली वाली अपनी कुटिया में वापिस आगये। कुटिया के एक चबूतरे पर खड़े होकर, वहाँ से दीख पड़ने वाली श्रीनाथ जी के मन्दिर की ध्वजा को उन्होंने नमस्कार किया और उसी ओर मुख करके श्रीनाथजी और गोसांई जी का ध्यान करते हुए वहीं पर वह लेट गये। अपने नियम के अनुसार भगवान् के जगमोहन में उपस्थित होकर आज वह कीर्तन करने में असमर्थ रहे। गोसांई विट्ठलनाथ जी ने आज सूरदास को इस अवसर पर वहाँ नहीं देखा तो उनके मन में शङ्का जाग उठी। वह इस सम्बन्ध में सेवकों से पूछ ही रहे थे कि तभी अन्य सेवकों ने वहाँ उपस्थित होकर उनसे निवेदन किया—सूरदास अचेत अवस्था में अपनी कुटिया में लेटे हुए हैं। आज उनकी दशा अच्छी नहीं है।

और इन सेवकों की इस बात ने गोसांई जी की शङ्का की पुष्टि की। इस सम्बध में वार्त्ता में लिखा है—

'......तब श्री गुसाँई जी ने अपने सेवकन सों कह्यो जो, पुष्टि मार्ग कों जिहाज जातहैं जाकों कछुलेनों होयतो लेउ।'

'...सो राजभोग आरती करिके श्री गोसांई जी गिरिराज ते नीचे उतरे सो आप परासोली पधारे, भीतर के सेवक रामदास जी प्रभृति और कुम्भनदासजी और गोसांईजी के सेवक गोविंद स्वामी चतुर्भुजदास प्रभृति और सब श्री गोसांई जी के साथ आये ...... तब सूरदास जी ने एक पद और कह्यौ सो पदः—

खंजन नैन-रूप रसमाते

अतिशय चारू चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते॥
चल-चल जात निकट श्रवनन के उलटि पलटितांटक फँदाते।
'सूरदास' अंजन-गुन अटके, नतरु अबहिं उड़िजाते॥

इतनो कहते ही सूरदास जी ने या शरीर को त्याग कियो।'

सूरदास जी के देहावसान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद

है। हिंदी के प्रायः सभी इतिहासकारों का मत है कि सूरदास जी की मृत्यु सम्वत् १६२० में हुई। कांकरोली के इतिहास में भी इसी सं० का उल्लेख किया गया है। परन्तु आजकल की खोज-रिपोर्टों ने सूरदास के देहावसान की इस सम्वत् को अप्रमाणिक सिद्ध कर दिया है।

वार्त्ता के उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सूरदास जी की मृत्यु गोसांई विट्ठलनाथ जी की उपस्थित में हुई। सं० १६१६ से १६२१ तक गोसांई जी ब्रजभूमि से अनुपस्थित रहे थे। सम्वत् १६२० में उनकी उपस्थिति दुर्गावती की राजधानी गढ़ा में लिखी हुई मिलती है। वास्तव में गोसाई जी का स्थायी ब्रज-वास सम्वंत् १६२८ के आस पास से प्रारम्भ होता है। उनका गोलोक-वास सम्वत् १६४२ में हुआ। इसलिये हमारे इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास जी की मृत्यु सं० १६२८ और सं० १६४२ के वीच हुई।

'सूर निर्णय' में श्री प्रभुदयाल मीतल ने सूरदास के कतिपय अंतः साक्ष्य के पदों के आधार पर सूरदास जी की विद्यमानता स० १६४० की माघ शुक्ला २ तक सिद्ध कर दिखाई है। इसका अर्थ है, सूरदास सं १६४० तक जीवित रहे और इसी सम्वत् में उनकी मृत्यु भी हुई। अतः सूरदास की निधन-सम्वत् १६४० ही मानना अधिक ठीक है।

२

सूरदास के ग्रंथ

जिस प्रकार सूरदास की जीवन-कथा में विद्वानों के बीच मत-भेद है, उसी प्रकार सूरदास के ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी। नागरी-प्रचारणी सभा, काशी ने अपनी खोज-रिपोर्ट में १६ ग्रंथों के नाम गिनाये हैं जो इस प्रकार हैं—

१–गोवर्धन लीला बड़ी—पद्य संख्या ३००, विषय—व्रजभूमि को इन्द्र के कोप से बचाने के लिये भगवान् श्री कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को सात दिनों तक अपनी एक उँगली पर उठाये रक्खा था। इस ग्रंथ में भगवान् की इसी लीला का वर्णन सूरदास ने किया है।

२–दशम स्कन्ध टीका—पद्य सख्या १६१३, विषय—भागवत के दशम स्कन्ध की कथा।

३–नागलीला—पद्य संख्या ४०, विषय—कालीदह की कथा। कहा जाता है भगवान् श्री कृष्ण ने यमुना में बहुत समय से रहने वाले एक बहुत ही भयङ्कर प्रकार के सर्प को मारकर व्रजभूमि के उस डर को सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया था। इस ग्रन्थ में भगवान् की उसी लीला का वर्णन है।

४–पद संग्रह—पद्य संख्या ४१७, विषय—इस ग्रंथ में नीति, धर्म और उपदेश सम्बन्धी पदों का सकलन किया गया है।

५–प्राणप्यारी—पद्य सख्या ३२, विषय–श्याम सगाई।

६–ब्याहलो— पद्य संख्या २३, विषय—विवाह।

७–भागवत्—पद्य संख्या ११२६, विषय—श्रीकृष्ण की जीवन-कथा। [यह ग्रंथ खण्डित है। प्रारम्भ के २५६ पृष्ठ इस ग्रथ में नहीं हैं। पृष्ठ २५७ से भागवत के दशम स्कन्ध की कथा लगभग बीच के भाग से आगे बढ़ती है। और इस ग्रंथ का अन्त भागवत के द्वादश स्कन्ध की कथा के अन्त के साथ हुआ है।]

८. सूर पचीसी—पद्य संख्या २८, विषय—ज्ञानोपदेश के पदों का संग्रह।

९. सूरदास जी का पद—विशेष विवरण अज्ञात है।

१०. सूरसागर—पद्य संख्या २१०००, विषय—भागवत पुराण की कथा।

११. सूरसागर सार—पद्य संख्या ३७०, विषय—ज्ञान, वैराग्य और भक्ति सम्बन्धी पद।

[इस ग्रन्थ का प्रारम्भ 'श्रीरामाय नमः' से होता है, जो ग्रन्थ का नाम 'सूरसागर सार' होने के कारण विचित्र सा जान पड़ता है। प्रारम्भ और अन्त के पद भी भगवान् राम से ही सम्बन्धित हैं।] देखिये—

प्रारम्भ का पद

विनती कोई विधि प्रभुहिं सुनाऊँ।
महाराज रघुवीर धीर को, समय न कबहुँ पाऊँ॥

अन्तिम पद

सियाराम लछमन निरषत सूरदास के नयन सिराये॥

१२. एकादशी माहात्म्य—पद्य संख्या ६३, विषय—वंदना तथा हरिश्चन्द्र और रोहिताश्व की कथा।

१३. राम जन्म—पद्य संख्या ६४०, विषय—भगवान राम के चरित्र का चित्रण।

बारह और तेरह नम्बर के दोनों ग्रन्थ सूरजदास के नाम से हैं। अगर सूरदास ही सूरजदास हैं, तो सूरदास की ग्रन्थ-सूची में इन दोनों ग्रन्थों की गणना करना उचित ही है।

१४. सूर सारावली—पद्य संख्या ११०७, विषय—हरि-कथा।

१५. साहित्य लहरी—विषय—कृष्ण की बाललीला तथा नायिका भेद सम्बन्धी वर्णन।

१६. नल दमयन्ती—[अब यह निश्चय हो चुका है कि यह ग्रन्थ किसी अन्य सूरदास ने सम्वत् १६८५में लिखा है।]

मगर कुछ विद्वानों ने सूरदास के ग्रन्थों की सूची में उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कई अन्य नाम भी जोड़े हैं। जैसे—(१)सूर-साठी, (२) सेवा-फल, (३) सूर रामायण, (४) मान-लीला, (५) भँवरगीत, (६) राधारसकेलिकौतूहल आदि। और इस प्रकार सूरदास कृत ग्रन्थों की संख्या २५ तक पहुंचा दी है। मगर इन सभी ग्रन्थों का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से कई ग्रन्थ सूरदास कृत नहीं हैं। साथ ही कई ग्रन्थ सूर सागर के अन्तर्गत हैं। ऐसा ज्ञात होता है, 'सूरसागर' के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों का निर्माण, विषयानुसार सूरदास के पदों का सङ्कलन कर विभिन्न व्यक्तियों ने किया है। इसीलिये इन ग्रन्थों को सूरदास की स्वतन्त्र रचनाएँ नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार 'हरिवंश टीका', एकादशी माहात्म्य', 'नल दमयन्ती' और 'राम जंन्म' किन्हीं अन्य कवियों की रचनाएँ हैं। इन ग्रन्थों को सूरदास की रचनाएँ समझना भूल है।

मगर 'सूर-सारावली' के विषय में डा० ब्रजेश्वर वर्मा के इन शब्दों से हम सहमत नहीं हो सकते—

क्या यह सूरज कवि वह ब्रजवासी बालक तो नहीं है, जो नागरीदास जी के अनुसार ब्रजमें 'द्वैतुकिया होरी के भड़ौआ' गाता फिरता था और जिसे श्री गोस्वामी जी ने 'भगवत जस' वर्णन करने का उपदेश दिया था ? सम्भव है, गोस्वामी जी का उपदेश मानकर कालांतर में उसी ने 'सारावली' के नाम से होली का बृहत् गान रच दिया हो।......यह 'द्वैतुकिया भड़ौआ' गाने वाला कवि कदाचित् नाम-साम्य और विश्वास-साम्य के कारण अपनी रचना को प्रसिद्ध भक्त कवि सूरदास की रचना के समकक्ष रखने का लोभ न संवरण कर सका हो।'

—सूरदास पृष्ठ ८२, ८३

अपनी इन पंक्तियों में सूरज कवि नाम के जिस बालक की ओर डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने संकेत किया है, उस तरह के कवि आज से पन्द्रह-बीस वर्ष पहिले, जब हिन्दी में समस्या-पूर्ति का युग शेष था, प्रत्येक नगर में दस-पाँच की संख्या में मिल ही जाते थे—और हमने उनकी प्रतिभा के दर्शन किये हैं। अपने उस अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं—ऐसे कवियों में प्रतिभा तो होती थी; मगर अल्प-मात्रा में, जिसकी सहायता से वे केवल कवि सम्मेलनों में कुछ ही क्षणों के लिए श्रोताओं को मुग्ध कर लेते थे; लेकिन उनकी कविता में ऐसी असीम सामर्थ नहीं पाई जाती थी कि वे 'सूर-सारावली' जैसे ग्रन्थ की रचना कर सकें। अपने दो-चार छन्दों में वे दो-चार पँक्तियाँ चमत्कार-पूर्ण लिख दें, वे केवल इतना ही कर पाते थे—उनसे डा० ब्रजेश्वर वर्मा की भांति कोई उच्च श्रेणी के किसी बड़े रूपक-ग्रन्थ की आशा करे, तो उसकी उस आशा को दुराशामात्र ही कहा जा सकता है।

और सूरज कवि नामक वह ब्रजवासी बालक 'द्वैतुकिया होरी के भड़ौआ' ही लिख और गा सकता था—'सूर-सारावली' जैसे ग्रन्थ की रचना वह नहीं कर सकता था।

यह सत्य है, सूरदास कृत 'सूर सारावली' में दो-दो पंक्तियों

का एक-एक पद है और सूरज कवि भी होरी के भड़ौआ द्वैतुक्रिया ही बनाता था—साथ ही विषय भी दोनों का एक ही है, शायद इसीलिये डा० ब्रजेश्वर वर्मा के मन में इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न हुआ है। लेकिन यह उनका सन्देह ही है—केवल !

वास्तव में सूरदास कृत 'सूर-सारावली', 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसागर' नामक ये तीन रचनाएँ ही ऐसी है, जिन पर लगभग सभी विद्वान् एकमत हैं। सूरदास कृत ये तीनों ही ग्रन्थ काफी बड़े ग्रन्थहैं। इन तीनों ग्रन्थों में भी 'सरसागर' सबसे बड़ा ग्रन्थ है।

सूर-सारावली

कतिपय विद्वानों का मत है कि 'सूर-सारावली' सूरदास के वृहद्-काय ग्रन्थ 'सूरसागर' की अनुक्रमणिका-मात्र है। और उनके इस भ्रम का मुख्य कारण है, 'सूर-सारावली' की ये पंक्तियाँ—

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ, लीला भेद बतायौ।
ता दिन तें हरि लीला गाई, एक लक्ष पद बंद।
ताकौ सार 'सूर' सारावलि, गावत अति आनंद॥

जिनका अर्थ वे साधारण रूप में इस प्रकार करते हैं—आचार्य वल्लभाचार्य ने मुझे तत्व और लीला-भेद सुनाया है और मैंने एक लक्ष पदों में भगवान् की उसी लीला का गायन किया है—'सूर-सारावली' मेरे उसी गायन का सार है, जिसको मैंने आनन्दपूर्वक गाया है।

यही कारण है जो कुछ विद्वान् 'सूर-सारावली' को 'सूरसागर' की अनुक्रमणिका-मात्र मानते हैं—साथ ही उसे 'सूरसागर' के बाद की रचना कहते हैं। मगर इस सम्बन्ध में हमें श्री प्रभुदयाल मीतल की वह टिप्पणी, जो उन्होंने 'अष्टछाप-परिचय' नामक अपनी पुस्तक में दी है, अधिक सुसङ्गत और तर्कपूर्ण जान पड़ती है। हम उनके विचारों से पूर्ण सहमत होते हुए उसे यहाँ पर ज्यों का त्यों उद्धृत कर रहे हैं—वह लिखते हैं,

"उक्त अर्थके कारण 'सारावली' को सूरसागर का सूचीपत्र अथवा उसकी अनुक्रमणिका समझ लिया जाता है। वार्ता में सूरदास कृत लाख-सवालाख पदों का उल्लेख होने के कारण ही यहाँ पर 'एक लक्ष' का अर्थ एक लाख समझा गया है, किन्तु वास्तव में यह शब्द संख्या-वाची नहीं है; किन्तु वह कृष्ण का सूचक है। भागवत में नव लक्षण-सर्गादि नव लीलाओं से लक्ष्य- आश्रय स्वरूप श्रीकृष्ण का निरूपण किया गया है, अतः सूरदास ने सारावली की लीलाओं के गायन करने से पूर्व लीलात्मक श्रीकृष्ण के चरणों की पद-वंदना की है। इसलिए उक्त छन्द का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए— 'एक लक्ष भगवान् श्रीकृष्ण की पद-वंदना कर अपनी गायी हुई हरि-लीलाओं का सार सूरदास ने आनन्दपूर्वक 'सारावली' में गाया है।' नन्ददास ने भी अपनी रचना भागवत-भाषा में नवलक्षण से लक्ष्य श्रीकृष्ण की इस प्रकार वंदना की है—

नव लक्षण करि 'लक्ष' जो, दसयें आश्रयरूप।
'नंद' वंदिलै ताहिकों, श्रीकृष्णाख्य अनूप॥

उपर्युक्त अर्थ के कारण 'सारावली' 'सूरसागर' का सूचीपत्र सिद्ध नहीं होती है।" साथ ही विद्वानों के इस भ्रम का भी निराकरण हो जाता है कि 'सूर-सारावली' 'सूरसागर' के बाद की रचना है। वास्तव में, 'सूरसागर' ही सूरदास की अन्तिम रचना है—जिसमें सूरदास का सब-कुछ संग्रहीत है। महाप्रभु वल्लभाचार्य सूरदास की कवित्व-शक्ति पर मुग्ध होकर उन्हें कभी-कभी 'सूरसागर' कह कर सम्बोधित किया करते थे। शायद इसीलिए 'सूरसागर' के अज्ञात सङ्कलन कर्त्ता ने सूरदास के पदों को क्रम-बद्ध रूप देकर महाप्रभु की वाणी को 'सूरसागर' के रूप में अमर कर दिया है। फिर, यह भी सम्भव हो सकता है कि 'सूरसागर' के सङ्कलन का कार्य सूरदास के जीवन-काल में ही प्रारम्भ हुआ हो और उनके देहावसान के बाद पूर्ण! अस्तु,

इसलिये 'सूर सारावली' को 'सूरसागर' की अनुक्रमणिका अथवा उसे 'सूरसागर' के बाद की रचना मानना उचित और तर्क-पूर्ण नहीं जान पड़ता। वास्तव में 'सूरसारावली' भी 'सूरसागर' की भांति ही सूरदास कृत एक रचना है—जो दो दो पंक्तियों के११०७ पदों में पूरी हुई है। अपनी इस रचना में सूरदास ने होली के पवित्र त्यौहार को रूपक मानकर प्रभु की शाश्वत लीलाओंका ऐसा सुन्दर और विशद वर्णन प्रस्तुत किया है—कि पढ़ते समय मन में पवित्र आनन्द का एक स्रोत सा उमड़ने लगता है। प्रभु की असीम शक्ति का परिचय हमें सहज ही में प्राप्त हो जाता है। जिस सत्य को हम वार्तालाप के बीच कभी-कभी अनायास ही कह डालते हैं—'संसार के अणु-अणु में वह प्रभु व्याप्त है', सूरदास ने अपने इस ग्रन्थ में उसी सत्य का ऐसा विषद् और लीलामय वर्णन प्रस्तुत किया है कि हमारे इस विश्वास की सत्यता हमारे नेत्रोंके सम्मुख हँसती-सी जान पड़ती है।

संसार में क्षुद्रतम जो-कुछ है, और महानतम जो-कुछ, वह सब कुछ उसी लीलामय भगवान् का छोटा और बड़ा रूप है। वही सका कर्त्ता है, और उसका कारण भी वही—फिर, छोटे बड़े का भेद कैसा ? जब छोटा भी वही है और बड़ा भी वही—तो, भेद की आँखों से देखने के कारण ही वह छोटा और बड़ा दिखलाई देता है। अन्यथा सब कुछ है वही।

और आर्यों के त्योहार होली में कुछ ऐसा ही भाव निहित है। उस दिन सभी छोटे-बड़े एक होकर, एक दूसरे पर रङ्ग डालकर, अबीर बिखेर कर और गले मिल कर अपने इस पर्व को प्रसन्नता-पूर्वक मनाते हैं—और एक दिन के लिए अपने सभी भेद-भावों को भूल जाते हैं। मगर ब्रज में यह त्यौहार वसन्त से चैत्र की पूर्णिमा तक मनाया जाता है। इसीलिए सूरदास ने 'सारावली' में राधा, कृष्ण; गोपी और गोपों के बीच होने वाली होरी का वर्णन वसन्त से आरम्भ कर तिथि वार चैत्र की पूर्णिमा तक किया है। 'सारा-वली' के १०४७ से १०८७ तक के छन्दों में भगवान की यह लीला

विविध रूपों में अपना रङ्ग बिखेर रही है।

होली के अवसर पर गाये जाने वाले होली नाम के गाने भी होते हैं—और 'सूर-सारावली' ठीक उन गानों-जैसे पदों की ही एक पुस्तक है—जिसकी टेक है।

'खेलत यह विधि हरि होरी हो; हरि होरी हो वेद विदित यह वात'

'सारावली' में उक्त पंक्ति मङ्गलाचरण के तुरन्त बाद ही दी गई है। और इसके जोड़ की दूसरी पंक्ति समूची 'सारावली' में कहीं पर भी नहीं है। केवल इसी एक पँक्ति को छन्द सँख्या ११०४ के बाद फिर दुहरा दिया गया है।

वास्तव में 'सारावली' का सार यही है–यह संसार उस लीला-धारी की लीला का क्रीड़ा-स्थल है। और वह निर्गुण, अनन्त और अविनाशी होते हुए भी पुरुषोत्तम रूप में यहाँ पर अनेक रूपों में प्रकट होकर विविध प्रकारकी नाना क्रीड़ायें किया करता है। उसकी इन लीलाओं का वर्णन करने वाला, ध्यानपूर्वक उन लीलाओं के उस वर्णन को सुनने वाला इस असार संसार के वँधन से मुक्त हो जाता है। मनुष्य के इस व्रत के आगे ज्ञान, कर्म, उपासना, योग आदि सब फीके पड़ जाते हैं। इस गोपाल रूप में समस्त तत्त्व, ब्रह्मांड, प्रकृति, पुरुप आदि सब-कुछ समाया है।

और सूरदास ने ऐसे ही उस गोपाल की लीलाओं का 'सारा-वली' के रूप में गायन कर अपनी मुक्ति के द्वार को उन्मुक्त रखने की सफल चेष्टा की है।

साहित्य लहरी

'सूर-सारावली' की भांति डा० व्रजेश्वर वर्मा 'साहित्यलहरी' को भी सूरदास कृत नहीं मानते। इस सम्बन्ध में वह लिखते हैं—'साहित्य लहरी' का रचनाकार कोई सूरजचन्द नामक भाट जान पड़ता है, जो कदाचित् चन्दवरदाई और सूरदास—हिन्दी के दो महान् कवियों से अपने व्यक्तित्वको सम्वन्धित और मिश्रित करने के

लोभमें साहित्यिक प्रवचना का अपराध कर बैठा,–सूरदास पृष्ठ ६६

मगर इसके विपरीत श्री मुँशीराम शर्मा 'साहित्य लहरी' को सूरदास की ही रचना स्वीकार करते हैं। उन्होंने 'सूर-सौरभ' (प्रथम भाग) में इस बातको स्पष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया है। हम भी 'साहित्य-लहरी' को सूरदास कृत ही मानते हैं। वास्तव में पुष्टि सम्प्रदाय के प्रारम्भिक इतिहास को देख लेने पर यह भली प्रकार समझ में आ जाता है कि 'साहित्य लहरी' का रचनाकार कोई सूरजचन्द नामक भाट नहीं; बल्कि इसके रचियता स्वयँ सूरदास ही हैं। अपनी इस रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए रचना विषय तिथि वाले पद के अन्त में सूरदास ने लिखा है—

'नन्दनन्दन दास हित साहित्य-लहरी कीन।'

अष्ट-छाप के कवि नन्ददास सं० १६०७ में पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। उस समय तक उनका मन संसार से पूर्ण रूप से विरक्त नहीं हुआ था। इसीलिए उन्हें पूर्णतया: कृष्ण-भक्त बनाने के लिए सूरदास को सौंपा गया। सूरदास ने अपने इस शिष्य को उसी के ढङ्ग पर शिक्षित करना उचित और सरल समझा और रस और अलँकार से युक्त नायिका भेदके पदों की रचना कर 'साहित्य-लहरी' का निर्माण किया। सूरदास के इन पदोंके कारण ही नन्ददास का विद्याभिमान भी दूर हुआ और उनके मन में माधुर्य-भक्ति का आनन्द भी जाग उठा। और वह कुछही दिनोंमें सूरदास के सत्सङ्ग से दृढ़ कृष्ण-भक्त बन गए। 'साहित्य-लहरी' से उद्धृत उपर्युक्त पँक्ति में सूरदास ने इसी भाव को व्यक्त किया है।

सूरदास ने अपने इस ग्रन्थ 'साहित्य लहरी' की रचना दृष्टिकूट पदों में की है। दृष्टिकूट का अर्थ है यमक, श्लेष, रूपकातिश्योक्ति आदि अलंकार तथा अनेकार्थवाची शब्दों की सहायता से ऐसी रचना करना, जिसका अर्थ केवल विज्ञ जन ही समझ सकें—साधारण पाठकों की पहुंच से वह दूर की वस्तु हो। यही कारण है जो 'साहित्य लहरी' का प्रत्येक पद इसी प्रकार का है। उसके

किसी भी पद को सरलतापूर्वक नहीं समझा जा सकता। उदाहरणार्थ एक पद देखिये—

सारंग समकर नीक-नीक सम सारँग सरस बखाने।
सारंग त्रस भय, भयबस सारंग, सारंग बिसमै माने॥
सारँग हेरत उर सारँग ते सारँग सुत ढिंग आवै।
कुन्तीसुत सुभाव चित समुझत सारँग जाइ मिलावै॥
यह अद्भुत कहिबे न जोग जुग देखत ही बनि आवै।
सूरदास चित समे समुझि करि विपई विपै मिलावै॥४॥

उपर्युक्त पद में सारंग शब्द कई बार प्रयोग में आया है, और प्रत्येक स्थान पर उसके अर्थ भी अलग-अलग हैं। किसी स्थान पर मृग का बोध कराता है, किसी पर राग का और किसी पर कमल का! और यमक अलंकार की पहिचान यही है। इस पद के सारंग शब्द में यमक है।

जान पड़ता है, अपने इस ग्रन्थ में सूरदास ने जान-बूझकर इस शैली का प्रयोग किया है। 'सूरसागर' में भी इस प्रकार के पद मिलते हैं; मगर कम संख्या में; लेकिन 'साहित्य लहरी' का प्रत्येक पद उन्होंने अपनी इसी शैली में लिखा है। और इसका केवल एक ही कारण ज्ञात होता है—शायद सूरदास को यह डर रहा हो, नायिका-भेद का उनका यह वर्णन कहीं अल्पबुद्धि जन साधारण में अनाचार की दुर्भावना प्रस्फुटित करने में सहायक सिद्ध न हो जाये। और भक्त-कवि सूरदास के इस डर को निर्मूल नहीं कहा जा सकता। इसीलिए उन्होंने अपने इन पदों को इतना जटिल रूप प्रदान किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं 'साहित्य लहरी' का समूचा ढाँचा नायिकाभेद वर्णन के आधार पर खड़ा किया गया है, जिसमें रस और अलंकार गारे-पानी का कार्य कर रहे हैं। और अपने इस रूप में यह ढाँचा सुन्दर और सर्वोत्कृष्ट है। साथ ही इसके निर्माणकर्त्ता ने इस बात का भी ध्यान रक्खा है, कि उसके इस सुन्दर और

सर्वोत्कृष्ट ढाँचेमें किसी सुन्दर और सर्वोत्कृष्ट आत्मा का भी निवास भी हो। यही कारण है जो हम उसमें अलौकिक माधुर्य-श्री के दर्शन कर परम पवित्र आनन्द का अनुभव करते हैं। मगर यह मधुर रस परम गोपनीय है। इसका रसास्वादन विरले भिज्ञ जन ही कर सकते हैं, और यही इसके निर्माणकर्त्ता का उद्देश्य है।

सूरसागर

सूरदास कृत 'सूरसागर' एक वृहद्-काय ग्रंथ है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में कहा गया है कि 'सूरसागर' में २१००० पद सग्रहीत हैं; मगर अभी सभा पूर्ण 'सूरसागर' छापकर प्रकाशित नहीं कर सकी है, इसलिये अभी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सम्वत् १९८० में प्रकाशित 'सूरसागर' के संस्करण पर ही आधारित रहना पड़ता है। उसमें नीचे दी हुई तालिका के अनुसार पदों की संख्या ४१३२ तक ही पहुंचती है --

स्कन्ध	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१० पू०	१० उ०	११	१२
पदसंख्या	२१९	३८	१८	१२	४	४	८	१४	१७२	३४९४	१३८	६	५

जोड़ ४१३२

मगर ऊपर दी हुई तालिका भी अशुद्ध है— श्री मुन्शीराम शर्मा ने अपनी पुस्तक 'सूर-सौरभ' (द्वितीय भाग पृष्ट १३) में इसकी अशुद्धता पर पूर्ण प्रकाश डाला है। वर्णन लम्बा है, इसलिए हम उसे मूल रूप में यहाँ उद्धृत नहीं कर रहे हैं। परन्तु है वह सत्य !

'सूरसागर' भागवत के आधार पर लिखा गया है, और भागवत के समान ही बारह स्कन्धों में विभाजित भी है। जैसा कि हम पीछे एक स्थान पर लिख आए हैं, महाप्रभु वल्लभाचार्य, सूरदास के सम्मुख भागवत के जिस प्रकरण की व्याख्या करते थे, सूरदास उसी व्याख्या के अनुसार पदों की रचना किया करते थे मगर

जैसाकि कुछ विद्वानों का मत है—'सूरसागर' भागवत का अनुवाद है, उनके इस विचार से हम सहमत नहीं हैं। क्योंकि,

भागवत एक प्रबन्ध—काव्य है, मगर 'सूरसागर' को प्रबन्ध काव्य नहीं कहा जा सकता। फिर 'सूरसागर' और भागवत के विभिन्न स्कन्धों के विस्तार में भी काफी अन्तर है, जैसाकि उपर्युक्त तालिका से प्रकट है। तो, इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त है, भागवत में वर्णित कथाओं को सूरदास ने 'सूरसागर' में अपने ढङ्ग पर व्यक्त किया है, इसीलिए किसी कथा को विस्तार के साथ लिखा है, किसी को सूक्ष्म रूप में और अन्य कितनी ही कथाओं को उन्होंने छोड़ भी दिया है। वास्तव में सूरदास, ने अपने प्रधान विषयों विनय, कृष्ण की बाल-लीला, गोपीकृष्ण, राधा और कृष्ण की प्रेम लीला, गोपी-विरह और भ्रमर-गीत को ही 'सूरसागर' में सँजोया है—इसीलिए भागवत और 'सूरसागर' के स्कन्धों के विस्तार में काफी अन्तर है। सूरदास के ये प्रिय विषय भागवत में भी हैं। मगर बहुत ही सूक्ष्म रूप में; लेकिन 'सूरसागर' का तीन चौथाई भाग इसी प्रकार के वर्णनों से घिरा हुआ है। इसलिये 'सूरसागर' को भागवत का अविकल अनुवाद नहीं कहा जासकता। वह उस पर आधारित अवश्य है, लेकिन है, वास्तवमें वह अधिकांश में सूरदास की मौलिक रचना।

ज्ञात होता है, सूरदास की निम्नलिखित पंक्तियों ने विद्वानों के मस्तिष्क में ऐसा भ्रम उत्पन्न किया है—

व्यास कहें सुकदेव सों द्वादश स्कन्ध बनाय।
सूरदास सोई कहै, पद भाषा करि गाय॥

मगर सूरदास ने 'सूरसागर' के आधार भागवत के आभार को स्वीकार करने की दृष्टि से ही उपयुक्त पंक्तियों की रचना की है। इस सम्बन्ध में सत्य केवल है वही है जिसे हम अभी-अभी लिख आये हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य भागवत के जिस प्रकरण की व्याख्या किया करते थे, सूरदास अपने नियम के अनुसार उसी प्रकरण पर

पद रचना कर उन पदों का गायन किया करते थे, [illegible] में महाप्रभु ने भागवत की जिस समाधि भाषा को स्वीकार किया है और जिसकी व्याख्या-स्वरूप अधिकांश उनके [illegible] हैं, सूरदास ने भी भागवत की उन्हीं कथाओं को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। इसीलिए भागवत की अनेक कथाएँ भी उन्होंने छोड़ दी है और महाप्रभु द्वारा आदर-प्राप्त कथाओं को उन्होंने 'सूरसागर' में विस्तार के साथ दिया है। यही कारण है जो हम 'सूरसागर' को सूरदास की एक मौलिक रचना के रूप में स्वीकार करने के पक्षपाती हैं।

'सूरसागर' सूरदास की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। भागवत को आधार मानकर सूरदास ने अपने इस विशाल काव्य ग्रंथ की रचना की है। भागवत की भांति इसमें भी बारह स्कन्ध हैं। मगर भागवत के स्कन्धों के विस्तार और 'सूरसागर' के स्कन्धों के विस्तार में बहुत अन्तर है। 'सूरसागर' का दशम स्कन्ध ही वास्तव में 'सूरसागर' का सर्वस्व है। 'सूरसागर' में दशम स्कन्ध की पद-संख्या भागवत के दशम स्कन्ध की श्लोक-संख्या से भी अधिक है। वास्तव में सूरदास ने दशम स्कन्ध की कथा को बहुत विस्तार के साथ लिखा है। प्रथम और नवम स्कन्धों के गौरव को भी उन्होंने कुछ अंशों में निभाने का प्रयत्न किया है; मगर बाकी सब स्कन्धों का तो उन्होंने उपेक्षा-सी की है। पृष्ठ संख्या २६ पर दी हुई तालिका से जो पूर्णरूपेण स्पष्ट है।

'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध में विनय एवं भक्ति के २१६ पद हैं। इनमें अधिकांश वे ही पद हैं, जिनकी रचना सूरदास ने गऊघाट और उससे पूर्व के स्थान पर निवास करते हुए की थी और जिनके बल पर महाप्रभु वल्लभाचार्य को भी अपने पास खींच बुलाया था। सूरदास कृत इन पदों की उस समय बड़ी धूम मची थी। सूरदास ने इन पदों में दैन्य, पश्चाताप, आत्म-निवेदन, संसार की असारता, ज्ञान, वैराग्य, मोह-माया से मुक्त होने का सुझाव आदि दास्य-भक्ति

की सभी कड़ियों को एकत्र करनेका सफल प्रयत्न किया है। वास्तव में, दास्य-भक्ति के इन पदोंमें सूरदास की वाणी इतनी मर्म-स्पर्शिनी है कि उनकी आत्म-समर्पण, की भावना सशरीर उपस्थित हुई सी जान पड़ती है। मानो, प्रभु के अस्तित्व के सम्मुख उनके दास सूरदास का अस्तित्व धूल के एक कण के बराबर भी नहीं हैं।

साथ ही इन २१६ पदों में उनके बाद में लिखे हुये कुछ पद भी सम्मलित हैं—जिनमें भागवत के निर्माण का प्रयोजन, शुकदेव का जन्म, भगवान् व्यास का अवतार, महाभारत की संक्षिप्त कथा, श्रीकृष्ण का द्वारका-गमन आदि भागवत के प्रथम स्कन्ध की कथा का वर्णन किया गया है। और 'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध में इतना ही सब-कुछ है।

द्वितीय स्कन्ध में ३८ पद हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, ब्रह्मा की उत्पत्ति, चार श्लोक आदि भागवत के द्वितीय स्कन्ध की कथा का संक्षिप्त वर्णन है।

तृतीय स्कन्ध में १८ पद हैं। 'सूरसागर' के इस स्कन्ध में भागवत के तृतीय स्कन्ध की कथा बहुत ही सूक्ष्म रूप में है। इसमें कुछ नये प्रसङ्ग भी हैं, जैसे विदुर-जन्म, रुद्र उत्पत्ति, हरिमाया प्रश्न आदि—जो भागवत में नहीं हैं। साथ ही भागवत के तृतीय स्कन्ध के कतिपय कथा प्रसङ्गों को छोड़ भी दिया गया है—जैसे, साख्य, योग आदि का वर्णन!

चतुर्थ स्कन्ध में १२ पद हैं। भागवत के चतुर्थ स्कन्ध की कथाओं को ही इन पदों में गाया गया है; मगर अति सूक्ष्म रूप में!

'सूरसागर' के पँचम और षष्टम स्कन्ध तो बहुत ही छोटे हैं—इनमें केवल ४-४ ही पद है। भागवत के पंचम और षष्ठ स्कन्धों की कथा को ही इन पदों में केवल कह भर दिया गया है।

सप्तम स्कन्ध—इसमें आठ पद हैं। भागवत के सप्तम स्कन्ध की कथा नृसिंह अवतार की कथा के साथ-साथ भगवान् द्वारा शिव की सहायता औरनारद की उत्पत्ति की कथाओं को और जोड़

दिया गया है। ये कथायें भागवत के सप्तम स्कन्ध में नहीं मिलतीं। नारद की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में उनके पूर्व जन्म की कथा का वर्णन भागवत के प्रथम स्कन्ध में दिया गया है।

अष्टम स्कन्ध—इसमें १४ पद हैं। भागवत के अष्टम स्कन्ध की कथाओं को इन पदों में लघु रूप में प्रस्तुत किया गया है।

नवम स्कन्ध—'सूरसागर' के इस स्कन्ध में १७२ पद हैं। भागवत के नवम स्कन्ध की कथाओं (राजा पुरूरवा और उर्वशी की प्रेम कथा, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर-विवाह आदि) के वर्णन के साथ साथ गौतम-अहिल्या की कथा भी सूरदास ने दी है, जो भागवत के नवम् स्कन्ध में नहीं है। भागवत के इस स्कन्ध में राम-गाथा बहुत ही संक्षेप में है; परन्तु 'सूरसागर' में रामावतार का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। इसी प्रकार नहुष तथा कच और देवयानी की कथायें भी भागवत की अपेक्षा 'सूरसागर' में विस्तार से दी गई हैं। कृष्ण-भक्त होते हुये भी सूरदास ने राम-गाथा को भी आनन्द और गहरी आत्मानुभूति के साथ लिखा है। जैसे वह कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन करते हुए स्वयम् में ही खो—से गये हैं—इसी प्रकार उन्होंने रामकी बाल-लीलाओं का चित्रण भी मन की पूरी तल्लीनता के साथ किया है।

दशम् स्कन्ध पूर्वार्द्ध—इसमें ३४६४ पद हैं—लगभग पाँचसौ ! यह संख्या समूचे 'सूरसागर' के समस्त स्कन्धों की सम्मलित पद-संख्या से पाँचगुनी से भी अधिक है। वास्तव में, यही स्कन्ध 'सरसागर' का गौरव और उसका जीवन है—और सूरदास की महत्ता का परिचायक भी ! भागवत में भी यही स्कन्ध सबसे बड़ा है और 'सूरसागर' में भी ! इसी स्कन्ध में भगवान श्रीकृष्ण की जन्म-लीला, उनका गोकुल पहुँचना, उनकी बाल-लीला, पूतना, शकटासुर और तृणावर्त का वध, नामकरण संस्कार, वत्स-बक-अघासुर-वध, राधा से मिलन, दावानल-पान, चीर-हरण आदि

अनेक प्रसंगों का बड़ा ही आश्चर्यजनक और हृदयग्राही वर्णन है। इसी स्कन्ध के बाल-लीला सम्बन्धी अनेक पद विश्व-साहित्य में अपना प्रतिद्वन्दी नहीं रखते।

और इसी स्कन्ध में है गोपियों का विरह, उद्धव का ज्ञान—फिर भ्रमर-गीत, जो हिन्दी साहित्यमें एक अनुपम और सुन्दरतम उदाहरण हैं। वास्तव में, भ्रमर-गीत की सहायता से सूर ने निर्गुण भक्तिके स्थान पर सगुण भक्ति की स्थापना का प्रयत्न किया है। ज्ञान और प्रेमके बीच प्रेम की महत्ता प्रदर्शित की है। अपने इन पदोंमें उन्होंने अपने दीक्षा गुरू महाप्रभु वल्लभाचार्य के स्वप्न को साकार रूप प्रदान कर सगुण भक्ति की सार्थकता पर स्वरूप-सिद्ध प्रकाश डाला है।

दशम् स्कन्ध उत्तरार्द्ध—इस स्कन्ध में १३८ पद हैं। भागवत का दशम् स्कन्ध भी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त है और इसी प्रकार 'सूरसागर' का भी! दोनों में केवल एक ही अन्तर है—जहाँ भागवत के दशम् स्कन्ध उत्तरार्द्ध में ४१ अध्याय और १५१६ छन्द हैं, वहाँ 'सूरसागर' में केवल १३८ ही पद हैं और इतने ही पदों में भागवत के इस स्कन्ध की सभी कथाओं का वर्णन कर दिया गया है।

एकादश स्कन्ध में केवल ६ पद हैं। इन पदों में भागवत की केवल तीन ही कथाओं का वर्णन है। उसकी अन्य कथाएँ छोड़ दी गई हैं।

द्वादश स्कन्ध—इसमें पाँच पद हैं। बौद्धावतार, कल्कि अवतार, राजा परीक्षित और जनमेजय की कथाओं को ही इन पदों में गाया गया है।

इस प्रकार 'सूरसागर' भागवत का अविकल अनुवाद नहीं, वह उस पर आधारित अवश्य है। सूरदास कृत वह एक विशालकाय काव्य-ग्रन्थ है। उसका प्रत्येक पद वह स्वयम् में ही पूर्ण है, मगर एक ही प्रसंगपर वैसे उसमें कई-कई पद हैं। इसलिये अगर हम उसे एक विशाल मुक्तक-काव्य-ग्रन्थ कहकर पुकारें तो

हम समझते हैं, हमारा यह कथन अक्षरशः सत्य है। यही कारण है जो स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनके भ्रमर गीत वाले पदों का संकलन कर 'भ्रमर गीत सार' नाम से उनको एक अलग ही पुस्तक का रूप दे दिया था। ऐसा ही हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन वालों ने भी किया है। 'सूरसागर' में से विनय-सम्बन्धी पदों को निकालकर उन्होंने 'सूर-पदावली' नाम से एक अलग पुस्तक प्रकाशित की है। इस तरह एक-एक प्रसंग के पदों का अलग अलग संग्रह कर 'सूरसागर' में से कई और पुस्तकें बनाई और प्रकाशित की जा सकती हैं।

वास्तव में 'सूरसागर' एक सागर ही है—जिसकी गहराई असीम है और जिसकी लम्बाई-चौड़ाई अपरिमित! सूर के इस सागर के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने एक बार लिखा था—'न जाने कितनी मानसिक दशाओं का सञ्चार उसके भीतर है।' और यह मानसिक दशाओं का सञ्चार और कुछ नहीं—महाकवि सूर के हृदय के भीतर जो अगणित और अनमोल रत्न भरे पड़े थे-जन-हितार्थ उन्हें उन्होंने इस रूप में यहाँ पर बिखेरा है। पृथ्वी के गर्भ से उत्पन्न होने वाले रत्नों को तो यहाँ पर सब कोई छोड़ता है; मगर अपने मन के मनकाओं को कोई विरला ही!

और सूरदास उन विरले व्यक्तियों में से ही एक थे—इसीलिए उनके काव्यामृत का यह सागर 'सूरसागर' भी अमर है, अमिट है। उसकी गहराइयों में भरे हुए मोती भी अनमोल हैं।

३

सूरदास की भक्ति-भावना

सूरदास के जीवन से सम्बन्धित उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमान कर यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि सूरदास जन्मजात भक्त और कवि थे। भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने के निमित्त, उन्होंने अपने मन की जिस मौज को अपनी कविता में प्रवाहित किया, धर्म-प्राण और मनस्वी जन उसे भगवत्-भक्ति कह कर सम्बोधित करते हैं। भगवदनुग्रह का सिद्धाँत अत्यन्त प्राचीन है। वेद-काल से इसकी व्याख्या होती चली आई है। उपनिषदों में भी यह यत्र-तत्र सूत्ररूप से मिलता है। कठोपनिषद् का एक सूत्र है—'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमान मात्मनः—और इसका अर्थ है, भगवान् के प्रसाद से ही आत्म-स्वरूप (भगवान्) के दर्शन हो सकते हैं। मुण्डक उपनिषद् में भी यही बात कही गई है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम॥

आत्मा की उपलब्धि का कारण प्रवचन, मेधा और बहुशास्त्र श्रवण नहीं है—प्रत्युत उसकी कृपा ही है। जिस पर उसका अनुग्रह

होता है, वही उसे प्राप्त कर सकता है। श्रुतियाँ भी यही कहती हैं और श्रीमद्भागवत भी। श्रुतियों में इस तत्त्व का निरूपण सूत्र रूपमें हुआ है और श्रीमद्भागवत में विस्तृत व्याख्या सहित। इसी लिए श्रीमद्भागवत को इस सम्बन्ध में प्रथम अधिकारी ग्रन्थ कह कर सम्मानित किया जाता है।

वास्तव में, श्रीमद्भागवत एक अलौकिक ग्रन्थ है। इसमें भगवदनुग्रह को प्राप्त करने के सभी साधनों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। मगर वर्णाश्रम-धर्म, मानव-धर्म, कर्म-योग, ज्ञानयोग आदि साधनों की अपेक्षा भक्तियोग का इसमें विशेष रूप से निरूपण किया गया है। भक्तियोग के अतिरिक्त अन्य साधनोंका वर्णन ग्रंथमें प्रथा के निर्वाह के निमित्त जान पड़ता है; मगर भक्ति इसके प्रत्येक वाक्य में बिंधी हुई दृष्टिगोचर होती है। भक्ति के सम्बन्ध में प्रथम स्कन्ध में कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता यया ऽऽत्मा संप्रसीदति॥
(१।२।६)

मनुष्यों के लिए परमधर्म अथवा सबसे उत्तम धर्म वही है, जिसकी सहायता से उनमें श्रीहरि के प्रति निष्काम और अव्यभि, चारिणी भक्ति उत्पन्न हो। भक्ति से ही मनुष्य का हृदय आनन्द स्वरूप भगवान को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है।

जीव तथा ब्रह्म की नितान्त एकता की साधना-श्री यह भक्ति अपूर्व महिमा से युक्त है। इसकी महत्ता का गुण-गान अनेक आचार्यों, सन्तों तथा स्वयम् भगवान ने भी किया है। भगवान कहते हैं—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेपेत्यङ्घ्रिरेणुभिः

भक्तों के पीछे-पीछे सर्वदा मैं इसीलिए फिरा करता हूँ कि उनकी चरण-रज प्राप्त कर पवित्र हो जाऊँ।

और भक्त तथा भक्ति के सम्बन्ध में भगवान के इस वचन-

वाक्य को उनकी प्रतिष्ठा स्वरूप अन्तिम शब्दावली कहा जा सकता है। श्रीमद्भागवत में कहे गये प्रभु के इन वचनों को सूरदास ने अपने शब्दों में इस प्रकार रक्खा है—

भक्त-विरह-कातर करुनामय, डोलत पाछैं लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहिं पीठि सो अभागे ॥८॥

—'सूरसागर' (पहला खण्ड) का. ना. प्र. सभा।

अपनी इन पंक्तियों में सूरदास ने न केवल भगवान के वचन को ही दर्शाया है; बल्कि अपने मन की बात भी स्पष्ट शब्दों में कह दी है। वह कहते हैं, वे जन अभागे ही हैं, जो ऐसे करुणामय प्रभु को भूले हुए रहते हैं। और उनके इन शब्दों का अर्थ है—प्रभु करुणामय हैं—अपने भक्तों का स्मरण उन्हें सदा और प्रतिपल बना रहता है। भक्त का अनन्यप्रेम उन्हें बहुत भाताहै। ऐसे कृपालु स्वामी का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए भक्ति ही एक-मात्र सीधा, सरल और अमोघ साधन है।

वास्तव में, भक्ति की इस महत्ता के दर्शन सूरदास ने अपने जीवन के बाल्यकाल ही में किये थे। सौभाग्य से वह नेत्र हीन और एक निर्धन परिवार में उत्पन्न हुए तथा संसार में विद्यमान् घृणा नाम की भावना से उनका परिचय शीघ्र ही हो गया—और वह बड़े ही सहज-भाव से संसार से विरक्त हो गये। यह इतनी बड़ी घटना उनके जीवन में ऐसी सरलता के साथ घटित हुई ज्ञात होती है—कि जान पड़ता है—मानों, वह इस संसार में उत्पन्न हो इसलिए हुए थे कि वह अपना सम्पूर्ण जीवन भगवान की आराधना करते हुए ही व्यतीत करें और अपनी भक्ति-भावना के कविता रूपी पुष्पों को अमर, जीवन देकर जाँय।

और हुआ भी यही! इसीलिये श्रीमद्भागवत की भाँति सूर-साहित्य भी केवल भक्ति की सुगन्ध से ही ओत-प्रोत है। 'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' के प्रत्येक पद में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता, उसकी उपादेयता तथा

उसकी महत्ता ही प्रदर्शित की गई है। साथ ही भगवदनुग्रह को प्राप्त करने के अन्य साधनों की हीनता का परिचय देना भी सूरदास नहीं भूले हैं। उन्होंने प्रसंगवश अनेक पदों में उन साधनों की क्रिया-शीलता में सन्देह किया है।

इसीलिये सूरदास का वर्ण्य विषय प्रेम है। स्वधर्म की साधनावस्था का नाम भक्ति है तथा उसकी सिद्धावस्था का नाम प्रेम! मगर ये दोनों एक ही हैं—क्योंकि श्रीकृष्ण-प्रेम ही इस स्वधर्म का फल है, जो भक्ति रूपी लता में लगता है। और अपनी सिद्धावस्था में जाकर पक जाता है। इसीलिए भक्ति और प्रेम को अलग कर देखना भ्रम मूलक है। दोनों को एक समझना ही सत्य है।

इस सम्बन्ध में हमें सूरदास के भी यही विचार ज्ञात होते हैं—क्योंकि उन्होंने महाप्रभु वल्लाभाचार्य की आज्ञा से तुरन्त ही 'घिघियाना' बन्द कर हरि-लीला का गायन प्रारम्भ कर दिया था। फिर उन्होंने भगवान श्री कृष्ण के उसी प्रेममय रूप को अपनी कविता का विषय बनाया, भगवान के जिस रूप की जयदेव और विद्यापति ने वन्दना की थी। तब उन्होंने कृष्ण के उस मनमोहक और प्रेममय रूप के अगणित चित्र अपने शब्दों में उतारे—और ये सभी चित्र बहुत ही सबल और सजीव हैं। मानव-हृदय को आन्दोलित कर कृष्ण के प्रति श्रद्धालु बना देने की इन चित्रों में अद्भुत शक्ति विद्यमान है। साथ ही जो रचना-सौष्ठव की दृष्टि से भी अनमोल हैं। इसीलिये सूरदास को हिन्दी के समस्त वैष्णव साहित्य का प्रतिनिधि कहकर सम्मानित किया जाता है। इस सम्बन्ध में उनके वात्सल्य-प्रधान तथा संयोग और विप्रलंभ शृंगार-वर्णन के पद उनके परम सहायक हैं।

मगर उनके विनय-भक्ति के पदों को भी कम मूल्यवान नहीं समझा जा सकता। विनय के ये पद, जो 'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध में ही संग्रहीत हैं, पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व,

गऊघाट पर अपने निवास काल में ही उन्होंने बनाये थे। उनके इन पदों में दास्य-भक्ति के सभी लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

विनय-भक्ति के इन पदों का रचना-काल इस ओर का उनका अभ्यास-काल कहा जा सकता है। मगर उनके इस अभ्यास-काल के रचे हुए ये पद भी इतने भाव-पूर्ण, प्रभावोत्पादक और विषया-नुकूल हैं कि ये किसी नये भक्त की अटपटी भावना जैसे नहीं जान पड़ते—और न किसी नौसिखिया कवि की कल्पना जैसे ही! उनके विनय के इन पदों में भगवान में गहरी आस्था, भक्त का पूर्ण आत्म-समर्पण, संसार की निस्सारता और उपास्य के सम्मुख उपासक की दीनता का ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण हुआ है—कि जान पड़ता है, मानो—सूरदास उत्पन्न ही इसलिए हुए थे कि वह भक्त और कवि बनकर संसार में अमर हो जाँय।

यह हम पहिले ही कह आये हैं, भगवदनुग्रह का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है-और भगवान के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए आचार्योंने अनेक साधन बतलाए हैं। श्रीमद्भागवत में वर्णाश्रम-धर्म मानव-धर्म, कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि इन सभी साधनों का वर्णन आया है; मगर भक्तियोग को उसमें प्रमुख स्थान दिया गया है। सूरदास ने भी भक्तियोग नामक इसी योग कीसहायता से भगवद्-नुग्रह को प्राप्त किया।

भगवदनुग्रह-सिद्धान्त के समान भक्ति-योग का साधन सिद्धान्त भी अत्यन्त प्राचीन है। सत्ययुग, त्रेता और द्वापर अथवा प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रवृत्ति काल में भी यह विद्यमान था और कलियुग अथवा इस चतुर्थ प्रवृत्ति-काल में भी है। प्रथम तीनों कालोंमें इसका विकास हमें शनैः शनैः होता हुआ दिखाई देता है, मगर इस चतुर्थ काल में यह बहुत ही तीव्र-गति से आगे बढ़ा है। यही कारण है जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रवृत्ति काल में क्रमशः भक्त प्रह्लाद, भक्त हनुमान, भक्त विभीषण, भक्त अर्जुन आदि कुछ ही भक्तों के नाम हमारे सम्मुख आते हैं; मगर आज के इस युग में उत्पन्न अग-

उसकी महत्ता ही प्रदर्शित की गई है। साथ ही भगवदनुग्रह को प्राप्त करने के अन्य साधनों की हीनता का परिचय देना भी सूरदास नहीं भूले हैं। उन्होंने प्रसंगवश अनेक पदों में उन साधनों की क्रिया-शीलता में सन्देह किया है।

इसीलिये सूरदास का वर्ण्य विषय प्रेम है। स्वधर्म की साधना-स्था। का नाम भक्ति है तथा उसकी सिद्धावस्था का नाम प्रेम ! मगर ये दोनों एक ही हैं—क्योंकि श्रीकृष्ण-प्रेम ही इस स्वधर्म का फल है, जो भक्ति रूपी लता में लगता है। और अपनी सिद्धावस्था में जाकर पक जाता है। इसीलिए भक्ति और प्रेम को अलग कर देखना भ्रम मूलक है। दोनों को एक समझना ही सत्य है।

इस सम्बन्ध में हमें सूरदास के भी यही विचार ज्ञात होते हैं—क्योंकि उन्होंने महाप्रभु वल्लाभाचार्य की आज्ञा से तुरन्त ही 'घिघियाना' बन्द कर हरि-लीला का गायन प्रारम्भ कर दिया था। फिर उन्होंने भगवान श्री कृष्ण के उसी प्रेममय रूप को अपनी कविता का विषय बनाया, भगवान के जिस रूप की जयदेव और विद्यापति ने वन्दना की थी। तब उन्होंने कृष्ण के उस मनमोहक और प्रेममय रूप के अगणित चित्र अपने शब्दों में उतारे—और ये सभी चित्र बहुत ही सबल और सजीव हैं। मानव-हृदय को आन्दोलित कर कृष्ण के प्रति श्रद्धालु बना देने की इन चित्रों में अद्भुत शक्ति विद्यमान है। साथ ही जो रचना-सौष्ठव की दृष्टि से भी अनमोल हैं। इसीलिये सूरदास को हिन्दी के समस्त वैष्णव साहित्य का प्रतिनिधि कहकर सम्मानित किया जाता है। इस सम्बन्ध में उनके वात्सल्य-प्रधान तथा संयोग और विप्रलंभ श्रृंगार-वर्णन के पद उनके परम सहायक हैं।

मगर उनके विनय-भक्ति के पदों को भी कम मूल्यवान नहीं समझा जा सकता। विनय के ये पद, जो 'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध में ही संग्रहीत हैं, पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व,

इन पदों में दास्य-भक्ति के सभी लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

विनय-भक्ति के इन पदों का रचना-काल इस ओर का उनका अभ्यास-काल कहा जा सकता है। मगर उनके इस अभ्यास-काल के रचे हुए ये पद भी इतने भाव-पूर्ण, प्रभावोत्पादक और विषयानुकूल हैं कि ये किसी नये भक्त की अटपटी भावना जैसे नहीं जान पड़ते—और न किसी नौसिखिया कवि की कल्पना जैसे ही! उनके विनय के इन पदों में भगवान में गहरी आस्था, भक्त का पूर्ण आत्म-समर्पण, संसार की निस्सारता और उपास्य के सम्मुख उपासक की दीनता का ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण हुआ है—कि जान पड़ता है, मानो—सूरदास उत्पन्न ही इसलिए हुए थे कि वह भक्त और कवि बनकर संसार में अमर हो जाँय।

यह हम पहिले ही कह आये हैं, भगवदनुग्रह का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है—और भगवान के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए आचार्योंने अनेक साधन बतलाए हैं। श्रीमद्भागवत में वर्णाश्रम-धर्म मानव-धर्म, कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि इन सभी साधनों का वर्णन आया है; मगर भक्तियोग को उसमें प्रमुख स्थान दिया गया है। सूरदास ने भी भक्तियोग नामक इसी योग कीसहायता से भगवदनुग्रह को प्राप्त किया।

भगवदनुग्रह-सिद्धान्त के समान भक्ति-योग का साधन-सिद्धान्त भी अत्यन्त प्राचीन है। सत्ययुग, त्रेता और द्वापर अथवा प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रवृत्ति-काल में भी यह विद्यमान था और कलियुग अथवा इस चतुर्थ प्रवृत्ति-काल में भी है। प्रथम तीनों कालोंमें इसका विकास हमें शनैः शनैः होता हुआ दिखाई देता है, मगर इस चतुर्थ काल में यह बहुत ही तीव्र-गति से आगे बढ़ा है। यही कारण है जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रवृत्ति काल में क्रमशः भक्त प्रह्लाद, भक्त हनुमान, भक्त विभीषण, भक्त अर्जुन आदि कुछ ही भक्तों के नाम हमारे सम्मुख आते हैं; मगर आज के इस युग में उत्पन्न अग-

गित भक्तों के नाम गिनाये जा सकते हैं ।

वास्तव में, भक्ति-योग का विकास आज अपनी पूर्ण यौवना-वस्था में है। श्रीमद्‌भागवत के उपरांत इस सिद्धान्त को विकास-प्राप्त होने में जिन आचार्यों ने इसकी सहायता की उनमें रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये चारों आचार्य भक्त और दार्शनिक थे। जगद्‌गुरु शङ्कराचार्य ने केवल निर्गुण ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार किया था—अन्य सभी वस्तुओं को उसकी माया कहकर माना था ; मगर भगवान के सगुण रूप में आस्था रखने वाले इन भक्त और दार्शनिकों के मन को शङ्कराचार्य का यह मायावाद रुचिकर प्रतीत न हो सका। इसीलिए इससे उन्होंने स्पष्ट इन्कार किया। शङ्कर ने भक्ति को अविद्या या भ्रान्ति कहकर पुकारा था ; मगर इन आचार्यों ने उस भक्ति पर ही अपना सर्वस्व न्योछावर कर देना श्रेयस्कर समझा।

यह भारतीय धार्मिक विचार-धारा में तीसरी बड़ी क्रान्ति थी-जिसके सम्मुख शङ्कर का निर्गुणवाद ठहर न सका। यही कारण है जो ये आचार्य इस क्रान्ति की सबसे बड़ी विशेषता—अद्वैत वेदान्त और भक्ति के समन्वय को समूचे देश की जनता के हृदय में गहराई तक उतारने में सफल-मनोरथ हुये। इस प्रकार हम देखते हैं, विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में, जब सूरदास का इस क्षेत्र में आविर्भाव हुआ, भारतीय धार्मिक विचार-धारा की यह तीसरी बड़ी क्रान्ति, देश में चारों ओर, अपना प्रभाव डाल चुकी थी। उस समय महाप्रभु वल्लभाचार्य के कुशल हाथों में इसकी बागडोर थी और वह इस क्रान्ति के सफल सेनानी थे। देश की जनता को भगवान के निर्गुण रूप के स्थान पर उनका सगुणरूप अधिक अच्छा और हृदयग्राही लगने लगा था। और उस समय जनता की इस भाव-धारा के दो ही प्रतीक बने—भगवान राम और भगवान श्रीकृष्ण ।

इसीलिये विक्रम की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने सम्पूर्ण मानव-जीवन को अपने काव्य का विषय बनाकर 'रामचरितमानस' की रचना की और सूरदास ने केवल प्रेम को ही अपनी कविता का वर्ण्यविषय चुना। यही कारण है जो तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में जहाँ जीवन की अनेक परिस्थितियों, दशाओं और वृत्तियों का चित्रण है, वहाँ सूरदास के काव्य-ग्रन्थ 'सूरसागर', 'सूरसारावली' तथा 'साहित्य-लहरी' में केवल प्रेम के अन्तर्गत आने वाली मानसिक वृत्तियों और दशाओं का ही! मगर वह अपने क्षेत्र में बेजोड़ है। कहना न होगा, सूरदास ने संयोग शृङ्गार का तो ऐसा मनमोहक और सांगोपांग वर्णन किया है कि रीतिकालीन कविता उनकी उक्तियों की जूठन-मात्र जान पड़ती है। उनका विप्रलंभ शृङ्गार का वर्णन भी अनूठा है। विनय के पद भी भावपूर्ण हैं और स्नेह, सख्य, दाम्पत्य और भक्ति के भी! इस प्रकार सूरदास ने प्रेम के किसी भी अङ्ग को अछूता नहीं छोड़ा है और इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द अनमोल हैं—

'तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एकमुखी। पर एकमुखी होकर उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक की दौड़ लगाई है, उतनी तुलसी ने भी नहीं। जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उस पर उनका अधिकार अपरिमित है। उसके वे सम्राट हैं।'

भक्तियोग में भक्त प्रेमी है, भगवान प्रिय और प्रेम प्रेमी का सहारा! प्रेमी अपने इसी सहारे की सहायता से अपने प्रिय को प्राप्त करता है। फिर—क्योंकि उसके प्रिय की छवि सुन्दर है, मनमोहक है—वह उसकी रूप-माधुरी का पान करते हुये कभी अघाता नहीं है।'

जान पड़ता है, शायद भक्तकी इसी पिपासा ने निर्गुण भगवान को सगुण रूप प्रदान किया। फिर निर्गुण भगवान की निर्गुणभक्ति का संयम-नियम वाला शुष्क, नीरस, कठिन और दुरूह मार्ग सगुण

रूप में रसमय और सहज बन गया। जो मार्ग अब तक इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्तियों का निषेध कर भक्त के मन को मानवीय प्रकृति से ऊपर उठाने के एक कठिन कार्य में तत्पर रहता था, वह अब इन्द्रियों की सहज वृत्तियों को स्वाभाविक रूप में अग्रसर कर सरलतापूर्वक उस प्रेमी भक्त को उसके अपने प्रिय भगवान के सम्मुख पहुंचाने लगा।

वैराग्य-भक्ति का प्रधान लक्षण है। इसीलिए सूरदास की रचनाओं में 'सबतजि हरि भज' की ध्वनि सर्वत्र सुनाई पड़ती है। विनय सम्बन्धी उनके पदों में तो उनकी यह भावना निखर कर उभरी है। वास्तव में, विनय के उनके ये पद भक्तियोग में निर्धारित शरणागति के रूपक हैं। 'श्रीकृष्णः शरणंमम' श्रीकृष्ण ही हमारे शरण हैं—वाला सिद्धान्त, भक्त के आत्मसमर्पण वाले भाव का बोधक है। यही वह पहला कदम है, जो भक्त को उठाना पड़ता है—और फिर वह अपने भगवान की ओर बढ़ चलता है। इस शरणागति वाले सिद्धान्त की ६ विधियाँ हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) आनुकूल्यस्य संकल्पः—अनुकूल का संकल्प।
(२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्—प्रतिकूल का त्याग।
(३) रक्षिष्यतीति विश्वासो—भगवान रक्षक हैं, ऐसा विश्वास।
(४) गोप्तृत्ववरणं—भगवान् को अपना रक्षक चुनना।
(५-६) कार्पण्य एवं आत्मनिक्षेपण—अकिञ्चन भावसे भगवान् के सम्मुख आत्म-समर्पण करना।

सूरदास-रचित विनय-भक्ति के निम्नलिखित पदों में उपर्युक्त सभी विधियों की पूर्ति हुई है। देखिए—

(१) आनुकूल्यस्य सङ्कल्प :—अनुकूल का सङ्कल्प—
रे मन, गोविंद के ह्वै रहियै।
इहिं संसार अपार विरत ह्वै, जम की त्रास न सहियै।
दुख, सुख, कीरति, भाग आपनैं आइ परैं सो गहियै।

सूरदास भगवंत-भजन करि अन्त बार कछु लहियै ॥६२॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(२) प्रातिकूलयस्य वर्जनम—प्रतिकूल का त्याग—

रे मन, छाँड़ि विषय कौ रँचिवौ ।
कत तूँ सुवा होत सेमर कौ, अंतहिँ कपट न बचवौ ।
अंतर गहत कनक-कामिनि कौं, हाथ रहैगौ पचिवौ ।
तजि अभिमान, राम कहि बौरे, नतरुक ज्वाला तचिवौ ।
सतगुरु कह्यौ, कहौं तोसौं हौं, राम-रतन धन सँचिवौ ।
सूरदास-प्रभु हरि-सुमिरन बिनु जोगी-कपि ज्यौं नचिवौ ॥५६॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(३) रक्षिष्यतीति विश्वासो—भगवान रक्षक हैं, ऐसा विश्वास—

हरि सौं ठाकुर और न जन कौं ।
जिहिँ-जिहिँ विधि सेवक सुख पावै, तिहिँ विधि राखत मन कौं ।
भूख भए भोजन जु उदर कौं, तृषा तोय, पट तन कौं ।
लग्यौ फिरत सुरभी ज्यौं सुत-सँग, औचट गुनि गृह वन कौं ।
परम उदार, चतुर चिंतामनि, कोटि कुबेर निधन कौं ।
राखत है जन की परतिज्ञा, हाथ पसारत कन कौं ।
सङ्कट परैं तुरत उठि धावत, परम सुभट निज पन कौं ।
कोटिक करै एक नहिँ मानै, सूर महा कृतघन कौं ॥६॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(४) गोप्तृत्ववरणं—भगवान को अपना रक्षक चुनना—

प्रभु, मैं पीछौ लियौ तुम्हारौ ।
तुम तौ दीनदयाल कहावत, सकल आपदा टारौ ।
महा कुबुद्धि, कुटिल, अपराधी, औगुन भरि लियौ भारौ ।
सूर क्रूर की याही विनती, लै चरननि मैं डारौ ॥२१८॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(५) कार्पण्य—भगवान् के प्रति दीनता का भाव—

विनती करत मरत हौं लाज ।
नख सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज ।
और पतित आवत न आँखि-तर देखत अपनौ साज ।
तीनौं पन भरि ओर निबाह्यौ तऊ न आयौ बाज ।
पाछैं भयौ न आगैं ह्वै है, सब पतितनि सिरताज ।
नरकौं भज्यौ नाम सुनि मेरौ, पीठि दई जमराज ।
अबलौं नान्हे-नून्हे तारे, ते सब वृथा अकाज ।
साँचैं बिरद सूर के तारत, लोकनि-लोक अवाज ॥ ६६ ॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(६) आत्म-निक्षेपण—भगवान के सम्मुख आत्म-समर्पण—

हमैं नन्दनन्दन मोल लिये ।
जन्म के फंद काटि मुकराए, अभय अजाद किये ।
भाल तिलक, स्रवननि तुलसीदल, मेटे अंक बिये ।
मूँड़यौ मूँड़, कंठ बनमाला, मुद्रा-चक्र दिये ।
सब कोउ कहत गुलाम स्याम कौ, सुनत सिरात हिये
सूरदास कौं और बड़ौ सुख, जूठनि खाइ जिये ॥ १७१ ॥

—'सूरसागर' (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा ।

शरणागति-सिद्धाँत की उपर्युक्त ६ विधियों के साथ-साथ सूरदास ने अपने इन पदों में वैष्णव सम्प्रदाय की विनय-सम्बन्धी सातों भूमिकाओं का भी पालन किया है। दीनता, मान-मर्षता, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण—इस प्रकार सातों भूमिकायें उनके विनय के इन पदों में लक्षित होती हैं—

(१) दीनता—भक्त के मन की एक भावना है, जो पाप का बोध होने पर उसके मन में स्वतः जाग उठती है। स्वयं को अति तुच्छ समझकर वह प्रभु से विनय करता है—

हरि, हौं सब पतितनि कौ राउ ।
को करि सकै बराबरि मेरी, सो धौं मोहिं बताउ ।
व्याध, गीध अरु पतित पूतना, तिनतैं बड़ौ जु और ।

तिनमैं अजामिल, गनिकादिक, उनमें मैं सिरमौर।
जहँ-तहँ सुनियत यहै बड़ाई, मो समान नहिं आन।
और हैं आजकाल के राजा, मैं तिनमैं सुलतान।
अब लगि प्रभु तुम विरद बुलाए, भई न मोसौं भेंट।
तजौ विरद कै मोहिं उधारौ, सूर कहै कसि फेंट॥ १४५॥

—'सूरसागर' (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

(२) मान-मर्षता—अभिमान से रहित होने की क्रिया का नाम है। भक्त अभिमान का त्याग कर इष्टदेव की शरण में जाकर विनय करता है—

हरि, हौं महा पतित, अभिमानी।
परमारथ सौं विरत, विषय-रत, भाव-भगति नहिं नैंकहु जानी।
निसि-दिन दुखित मनोरथ करि करि, पावतहूँ तृष्ना न बुझानी।
सिरपर मीच, नीच नहिं चितवत, आयु घटति ज्यों अँजुलि-पानी।
विमुखनि सौं रति जोरत दिन-प्रति, साधुनि सौं न कबहुँ पहिचानी।
तिहिंबिनु रहत नहीं निसिवासर जिहिं सबदिन-रस-विषय बखानी
माया-मोह-लोभ के लीन्हें, जानी न बृन्दावन रजधानी।
नवलकिसोर जलद-तनु सुन्दर, बिसरयो सूर सकल-सुख-दानी॥१४६॥

—'सूरसागर' (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

(३) भय-दर्शन—पाप का बोध होने पर अभिमान से रहित और दीन सद्यः भक्त के मन में भय का संचार होना स्वाभाविक है—क्योंकि अभी वह निराश्रय है। भगवान ने अभी उसे अपनी शरण में नहीं लिया है—और वह व्याकुल हो भगवान से विनय करता है—

अबकैं राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम-डरिया, पारधि साधे बान।
ताकैं डर मैं भाज्यो चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान?

सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यौ संधान।
सूरदास सर लग्यौ सचानहि, जय-जय कृपानिधान ॥९७॥

—'सूरसागर' (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

(४) भर्त्सना—कभी-कभी नये भक्त का मन इधर-उधर भटक जाता है—यह भी स्वाभाविक ही है। मगर वह उसे डाँटता है—फटकारता है—और उससे कहता है—

तजौ मन, हरि-विमुखनि कौ संग।
जिनकैं संग कुमति उपजत है, परत भजन मैं भंग।
कहा होत पय-पान कराऐं, विष नहिं तजत भुजंग।
कागहिं कहा कपूर चुगाऐं, स्वान न्हवाऐं गंग।
खर कौं कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूषन-अंग।
गज कौं कहा सरित अन्हवाऐं, बहुरि धरै वह ढंग।
पाहन पतित बान नहिं वेधत, रीतौ कर निषंग।
सूरदास कारी कामरि पै, चढ़त न दूजौ रंग ॥ ३३२ ॥

—'सूरसागर' (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

(५) आश्वासन—डाँटने, फटकारने और समझाने पर जब भक्त का मन उसकी ओर आकर्षित होता है—तो उसे धीरज देता हुआ वह उससे कहता है—रे मन ! इष्टदेव के गुणों और उसकी कृपा में तू विश्वास कर—गोविन्द सबकी प्रीति को मानते हैं—

गोविँद प्रीत सबन की मानत।
जिहिँ-जिहिँ भाइ करत जन सेवा, अंतर की गति जानत।
सबरी कटुक बेर तजि, मीठे चाखि, गोद भरि ल्याई।
जूठनि की कछु संक न मानी, भच्छ किए सत—भाई।
संतत भक्त-मीत हितकारी स्याम विदुर कैं आए।
प्रेम-विकल, अति आनन्द उर धरि, कदली छिकुला खाए।
कौरव-काज चले रिषि सापन, साक पत्र सु अघाए।
सूरदास करूना-निधान-प्रभु, जुग जुग भक्त बढ़ाए ॥ १३ ॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(६) मनोराज्य—और मन उसका मान जाता है। मगर तब उसमें बड़ी-बड़ी अभिलाषाओं की एक बाढ़-सी आजाती है। एक आशा खेलती है—इष्टदेव उसकी अभिलाषाओं को जरूर पूरी करेगा—क्योंकि—

कहा कमी जाके राम धनी।
मनसा-नाथ मनोरथ-पूरन, सुख-निधान जाकी मौज घनी।
अर्थ, धर्म अरु काम, मोक्ष-फल, चारि पदारथ देत गनी।
इन्द्र समान हैं जाके सेवक नर बपुरे की कहा गनी।
कहा कृपिन की माया गनियै, करत फिरत अपनी-अपनी।
खाइ न सकै खरचि नहिँ जानै, ज्यौँ भुवंग सिर रहत मनी।
आनँद-मगन राम-गुन गावै, दुख-सँताप की काटि तनी।
सूर कहत जे भजत राम कौँ, तिनसौं हरिसौं सदा बनी ॥३६॥
—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(७) विचारणा—मगर तब, भक्त मन को माया-जाल की जटिलता का परिचय देता हुआ उसे संसार से दूर ले जाता है—भक्ति के मार्ग में! देखिये—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
या देही कौ गरब न करियै, स्यार-काग-गिध खैहैं।
तीननि मैँ तन कृमि, कै विष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहैं।
कहँ वह नीर, कहाँ वह सोभा, कहँ रँग-रूप दिखैहैं।
जिन लोगनि सौँ नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं।
घर के कहत सबारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहैं।
जिन पुत्रनिहिँ बहुत प्रतिपाल्यौ, देवी-देव मनैहैं।
तेई लै खोपरी बाँस दै, सीस फोरि बिखरैहैं।
अजहूँ मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि मैं कछु पैहैं।
नर-वपु धारि नाहिँ जन हरि कौं, जम की मार सो खैहैं।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु वृथा सु जनम गँवैहैं ॥८६॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

सूरदास स्वभावतः ही भक्त और कवि थे—इसीलिये उनकी प्रारम्भिक वाणी में भी इतना ओज और प्रवाह दीख पड़ता है। भगवद्भक्ति ही उनका सर्वस्व थी—उनके प्राण! वास्तव में, भक्ति की महत्ता को प्रदर्शित करने में उन्होंने कोई कोर-कसर बाकी नहीं रक्खी है। उनका सिद्धान्त था—भक्ति के बिना भगवान का अनुग्रह प्राप्त नहीं हो सकता। भक्तिके बिना ज्ञान और कर्म निष्फल हैं। यज्ञ, तप, योग, दान, व्रत आदि साधनों के द्वारा भगवान का लोक मिलना सम्भव है; मगर उनके चरण-कमलों में प्रीति प्राप्त करने के लिये निष्काम भक्ति ही एकमात्र साधन है।

और सूरदास का यह सिद्धान्त कितना सत्य है—भगवान के इन वचनों के द्वारा उसकी पुष्टि इस प्रकार होती है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकयाग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियःसताम।
भक्तिःपुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मःसत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकल्या शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः

(भाग० ११।१४।२०।२१)

वृद्धि को प्राप्त हुई मेरी भक्ति मुझको जितनी सरलता और जितने सहज-भाव से प्राप्त करा देती है—उतनी सरलता से न तो योग, न ज्ञान, न धर्म, न वेदों का स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है। मैं भक्तों का प्रिय आत्मा हूँ। इसीलिये श्रद्धा से ओत-प्रोत भक्ति के द्वारा वे मुझे सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं। कुत्ते का मांस खाने वाला चाण्डाल भी मेरी भक्ति करने पर पवित्र हो जाता है। मनुष्यों में सत्य और दया से युक्त धर्म हो एवं तपस्या

से परिपूर्ण विद्या भी; परन्तु मेरी भक्ति न हो—तो, इस प्रकार का धर्म और ऐसी विद्या दोनों मिलकर भी मेरी भक्ति के बिना, उनके अन्तःकरण को शुद्ध नहीं कर सकते।

जान पड़ता है, भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद की जीवन-कथा को सूरदास ने अपने बचपन में ही सुना और इस भक्त-प्रवर के इन शब्दों को ही अपनी भक्ति-भावना के सम्बन्ध में उन्होंने आदर्श स्वरूप माना -

न दानं न तपो नेज्यां न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
भाग० (७।७।५२)

फिर, उन्होंने जो-कुछ भी रचा, जो-कुछ भी गाया--भगवद्-भक्ति की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिये ही! यही कारण है जो उनके समस्त पदों में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उनकी यही भावना दीख पड़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं, विनय के पदों में, सूरदास ने भगवद्-नुग्रह के सिद्धान्त और भक्ति-योग की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुये, शरणागति-सिद्धान्त की छः विधियों तथा विनय-भक्ति की सात भूमिकाओं का समावेश कर, पूर्ण रूप से वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्त भाग का पालन किया है। अब हम उनके विनय के इन पदों में निहित भावों के प्रकार और उनकी पूर्णता पर विचार करेंगे।

अनन्य-भक्ति-भाव समूचे सूर-साहित्य में पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है। इसीलिये सूरदास की भक्ति अनन्य कोटि की भक्ति कही जाती है। अनन्य भाव की भक्ति का अर्थ है—उस एक ही प्रभु में अपनी समस्त वासनाओं, समस्त इच्छाओं और समस्त आवश्यकताओं को केन्द्रीभूत कर देना। फिर, भक्त का मन जहाँ भी जाये वहीं वह अपने भगवान के उसी स्वरूप में लीन हो जाये, जिस स्वरूप के लिये वह अपनी आसक्ति की अवस्था में पागल

और मतवाला है। और उपासक की यही अनन्यता उसकी शक्ति है; मगर वह अपनी इस शक्ति की ओर से भी बेखबर है। वह अनन्य प्रेमी तो अपने प्रभु के उस एक स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी और किसी को भी नहीं जानता।

और सूरदास के विनय के इन पदों में अनन्य भक्ति का यह भाव स्पष्ट लक्षित होता है। देखिये—

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसैं उड़ि जहाज कौ पच्छी, फिरि जहाज पर आवै।
कमल-नैन कौ छाँड़ि महातम, और देव कौं ध्यावै।
परम गंग कौं छाँड़ि पियासौ, दुरमति कूप खनावै।
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यों करील-फल भावै।
सूरदास-प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ॥१६८॥
—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अथवा

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूट गाऐं कैसें जन जीवत, ज्यौं पानी बिनु पान।
जैसैं मगन नाद-रस सारँग, बधत बधिक बिन बान।
ज्यौं चितवत ससि ओर चकोरी, देखत ही सुख मान।
जैसैं कमल होत अति प्रफुलित, देखत दरसन भान।
सूरदास-प्रभु-हरि-गुन मीठे, नित प्रति सुनियत कान ॥१६६॥
—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

इसीलिये सूरदास की भक्ति अनन्य कोटि की भक्ति कही जाती है। जान पड़ता है, अपनी अनन्य प्रकार की भक्ति-भावना के कारण ही वह अपने इन पदों में भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति कर सकने में पूर्ण सफल हुये हैं।

आत्म निवेदन या आत्मसमर्पण का भाव नवधा भक्ति के अन्तर्गत है। मगर भगवद्गीता में इसकी सत्ता को स्वतन्त्र रूप में भी स्वीकार किया है! वह 'सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'

नामक श्लोक—सर्वसिद्धान्त-सार-रूप श्लोक के नाम से प्रसिद्ध है। यह भाव भक्त की गहरी आस्था का द्योतक है। सूरदास ने भी विनय-भक्ति के पदों में इसे प्रमुख रूप से व्यक्त किया है। देखिये,

जौ हम भले बुरे तौ तेरे?
तुम्हें हमारी लाज-बड़ाई बिनती सुनि प्रभु मेरे।
सब तजि तुम सरनागत आयौ, दृढ़ करि चरन गहेरे।
तुम प्रताप-बल बदत न काहूँ, निडर भये घर-चेरे।
और देव सब रंक-भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तैं, पाए सुख जु घनेरे ॥१७०॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

उपर्युक्त पद में सूरदास की अनन्य श्रद्धा स्पष्ट लक्षित होती है। वास्तव में, सूरदास की आत्मसमर्पण की यह भावना इतनी प्रबल और पुष्ट है कि उसके दर्शन हमें अनायास ही हो जाते हैं।

'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध का पहला पद—'चरन कमल बन्दौं हरिराइ।' मङ्गलाचरण के रूप में भगवान् की भक्त-वत्सलता और उनकी मुक्ति-दात्री शक्ति का परिचायक है। उसकी कृपा से पंगु गिरि को लाँघ सकता है, अन्धे मनुष्य को सब-कुछ दिखलाई दे सकता है, बहिरा सुन सकता है, गूँगा बोल सकता है और रंक राजा बन सकता है—वह प्रभु करुणामय है—सूरदास उसके कमल रूपी चरणों की बार-बार बन्दना करते हैं।

और उन्होंने की भी है। इष्टदेव की भक्त-वत्सलता सूचक अनेक पद इस स्कन्ध में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रसङ्गवश इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक उदाहरण भी दिए हैं, जिनसे इस सत्य की सहज ही में पुष्टि हो जाती है कि वह भगवान करुणामय है, वह भक्त-वत्सल है।

वास्तव में, अपने इन पदों में सूरदास ने इष्टदेव श्रीकृष्ण के कृपालु रूप में विश्वास कर अपने निम्नलिखित सिद्धान्त भाव की पुष्टि की है—

'यदि हम दृढ़ भक्ति के साथ भगवान श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में अपनी आश्रयहीन आत्मा को डालदें तो क्या वह करुणामय प्रभु हमारा उद्धार नहीं करेगा ?'

और सूरदास ने भृगु, विभीषण, उग्रसेन, प्रह्लाद आदि अनेक भक्तों के नाम गिनाकर उपर्युक्त अपने सिद्धान्त-भाव के प्रश्न-चिह्न के स्थान पर विराम का चिह्न लगा दिया है। उदाहरण के लिए देखिये—

सरन गए को को न उबारयौ।
जब जब भीर परी सन्तनि कौं, चक्र सुदरसन तहाँ सँभारयौ।
भयौ प्रसाद जु अँबरीष कौं, दुरवासा कौ क्रोध निवारयौ।
ग्वालनि हेत धरयौ गोवर्धन, प्रकट इन्द्र कौ गर्व प्रहारयौ।
कृपा करी प्रहलाद भक्त पर, खम्भ फारि हिरनाकुस मारयौ।
नरहरि रूप धरयौ करुनाकर, छिनक माहिँ उर नखनि विदारयौ।
ग्राह ग्रसत गज कौं जल बूड़त, नाम लेत वाकौ दुख टारयौ।
सूर स्याम बिनु और करै को, रंग-भूमि में कंस पछारयौ॥१४॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अथवा

[अर्जुन के प्रति भगवान् के वचन]

हम भक्तनि के, भक्त हमारे।
सुनि अर्जुन परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे।
भक्तनि काज लाज जिय धरि कै, पाइ पियादे धाऊँ।
जहँ-जहँ भीर परै भक्तनि कौं, तहँ-तहँ जाइ छुड़ाऊँ।
जो भक्तनि सौं बैर करत है, सो बैरी निज मेरौ।
देखि विचारि भक्त-हित-कारन, हाँकत हौं रथ तेरौ।
जीतैं जीति भक्त अपनैं के, हारैं हारि विचारौं।
सूरदास सुनि भक्त-विरोधी, चक्र सुदरसन जारौं॥२७२॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

परम भक्त अर्जुन के प्रति करुणामय भगवान के ये वचन

अपने भक्त के प्रति उनके कृपालु स्वभाव के द्योतक हैं। साथ ही इष्टदेव के प्रति सूरदास के विश्वास की दृढ़ता के परिचायक भी। मानो, इन शब्दों के रूप में सूरदास ने अपने विश्वास-कथन पर भगवान् के हस्ताक्षर की मोहर लगादी है।

वैराग्य को भक्ति का प्रधान लक्षण माना गया है। अपने इन पदों में सूरदासने भी वैराग्य-भाव की श्रेष्ठता को स्वीकार कर भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु अथवा विषय में प्रवृत्ति का न होना परमावश्यक बतलाया है। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं—संसार असार है। मनुष्य को उसके आकर्षण में नहीं फँसना चाहिये—क्योंकि जीव को मनुष्य की योनि बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है। अगर मनुष्य-जन्म को भी विषय-वासनाओं और काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह के आश्रित रहकर ही समाप्त कर दिया—तो, उस जीव का सर्वस्व खो गया। इसीलिए वह 'सब तज' और 'हरि भज' की बात बार-बार कहते हैं—क्योंकि मनुष्य-जीवन का एक-मात्र धर्म हरि की भक्ति ही है।

और भगवान की इस भक्ति अथवा प्रेम को केवल वे ही जन प्राप्त कर सकते हैं, जो राग और आसक्ति की भावना से विरक्त हो गये हैं। जिन्होंने अपनी बहिर्मुख वृत्तियों को लौकिक पदार्थों की ओर से हटाकर अपने इष्टदेव के स्वरूप में लीन कर दिया है—क्योंकि इस प्रकार वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर संयम के द्वारा अपने कारण में लय हो जाती हैं और जीव अपने कारण-रूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

फिर, ऐसे उस भक्त में दैवी ऐश्वर्य का उदय होता है। और ऐसे उस 'हरि के जन की ठकुराई' को देखकर बड़े-बड़े राजा-महाराजा, ऋषि, मुनि, सुर और नर लज्जित होते हैं। समस्त सिद्धियाँ उसके पीछे-पीछे फिरा करती हैं। मगर वह इन सबकी बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करता—क्योंकि वह स्वभाव से ही विरक्त है। फिर तो वैराग्यपूर्ण भक्ति ही उसका सर्वस्व है और वह अपनी सम्पूर्ण

वृत्तियों के साथ अपने इष्टदेव के स्वरूप में ही लीन रहता है।

इसीलिये सूरदास ने विनय-भक्ति के पदों में अपने वैराग्य-भाव को बार-बार गाया है। वास्तव में, वह स्वभावतः ही विरक्त थे। उन्होंने तो वैराग्य के मर्म को अपने बाल्यकाल में ही भली प्रकार से समझ लिया था—इसीलिये वह अपनी अल्पायु में ही विरक्त होकर घर से निकल गये थे। और उनका यही भाव, भक्ति का प्रधान लक्षण—वैराग्य, इन पदों में स्थान-स्थान पर दीख पड़ता है—

प्रीतम जानि लेहु मन माहीँ।
अपनैँ सुख कौँ सब जग बाँध्यौ, कोउ काहू कौ नाहीँ।
सुख मैँ आइ सबै मिलि बैठत, रहत चहूँ दिसि घेरे।
बिपति परी तब सब सँग छाँड़े, कोउ न आवत नेरे।
घर की नारि बहुत हित जासौँ, रहति सदा सँग लागी।
जा छन हंस तजी यह काया, प्रेत प्रेत कहि भागी।
या विधि कौ ब्यौपार बन्यौ जग, तासौँ नेह लगायौ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, नाहक जनम गँवायौ ॥७६॥

—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अथवा

हरि के जन की अति ठकुराई।
महाराज, रिषिराज, राजमुनि, देखत रहे लजाई।
निरभय देह, राज-गढ़ ताकौ, लोक मनन-उतसाहु।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ये भए चोर तैँ साहु।
दृढ़ बिस्वास कियौ सिंहासन, तापर बैठै भूप।
हरि-जस बिमल छत्र सिर ऊपर, राजत परम अनूप।
हरि-पद-पंकज पियौ प्रेम-रस, ताही कैँ रँग रातौ।
मंत्री ज्ञान न औसर पावै, कहत बात सकुचातौ।
अर्थ-काम दोउ रहैँ दुवारैँ, धर्म-मोक्ष सिर नावैँ।
बुद्धि-विवेक बिचित्र पौरिया, समय न कबहूँ पावैँ।
अष्ट महा-सिधि द्वारैँ ठाढ़ीँ, कर जोरे, उर लीन्हे।

छरीदार वैराग-विनोदी, झिरकि बाहिरैं कीन्हे।
माया,काल,कछू नहिँ व्यापै, यह रस-रीति जो जानैं।
सूरदास यह सकल समग्री, प्रभु-प्रताप पहिचानैं ॥४०॥
—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

हरि के भक्तों की प्रशंसा में गाये हुए उपर्युक्त पद में, वास्तव में, भक्ति-सम्बन्धी विचारों का पूर्ण समावेश हुआ है। जिस नर के शीश पर 'हरि-यश का विमल छत्र' हो, वह नर परम अनूप तो होगा ही। उसे फिर माया या काल की कालिमा किस प्रकार छू सकती है। प्रभु का प्रताप ऐसा ही है।

इस प्रकार अनन्य भक्ति, आत्म-समर्पण तथा वैराग्य-भाव के साथ-साथ सूरदास ने अपने इन पदों में उपालम्भ, साग्रह निवेदन और उद्बोधन के भाव भी व्यक्त किये हैं। और प्रथम तीन भावों के समान ये भाव भी स्पष्ट और पुष्ट हैं। वास्तव में, कवि के हृदय की टीस उसकी कविता में जीवन की ज्योति जगाती है। जीवन से परिपूर्ण वह कविता फिर सर्वाङ्गपूर्ण बन जाती है। और क्योंकि, इन पदों में, सूरदास के मन की वास्तविक अनुभूति व्यक्त हुई है, इसलिए उसका सर्वाङ्गपूर्ण बन जाना स्वभाविक ही है।

यहाँ पर उपालम्भ को उलाहना कहना उचित और युक्ति-संगत जान पड़ता है। बोलचाल की भाषा में उलाहना ठीक उसी अर्थ और भाव में प्रयुक्त होता है, जिस भाव को व्यक्त करने के लिए हमें उपालम्भ के साथ मधुर शब्द जोड़ना पड़ेगा—तभी हम सूरदास के मन की बात कह सकेंगे। उलाहना, उपालम्भ करने वाले के मन का ऐसा भाव है, जिसमें उसके मन की मिठास घुली-मिली रहती है—शरीर में आत्मा के समान! शरीर की भांति उलाहना नश्वर है और आत्मा की तरह मन की मिठास अमर। यही कारण है जो सूरदास की कविता मन की मिठास बनकर अमर हो गई है।

उपालम्भ में शैली की विशेषता का होना परम आवश्यक है—

साथ ही उचित और उपयुक्त शब्दों का चयन भी। बात कुछ इस ढँग में कही जाय-जो, सुनने वाले के मन में गुदगुदी उत्पन्न करदे। साथही शब्द ऐसे हों, जो उचित और उपयुक्त तो हों हीं, मगर जो वास्तविक सौन्दर्य को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ भी हों। वास्तव में, उपालम्भ-कर्ता ऐसे अवसर पर, प्रिय के प्रियदर्शी रूप को अपनी ढाल बनाकर, इस कार्य को साधता है। सूरदास के उपालम्भ को देखिये—

कहावत ऐसे त्यागी दानि।
चारि पदारथ दिए सुदामहिँ अरु गुरु के सुत आनि।
रावन के दस मस्तक छेदे, सर गहि सारँग-पानि।
लंका दई बिभीपन जनकौँ, पूरवली पहिचानि।
विप्र सुदामा कियौ अजाची, प्रीति पुरातन जानि।
सूरदास सौँ कहा निहोरो, नैंननि हूँ की हानि ॥१३५॥
—'सूरसागर' (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

मानो, भगवान की भक्त-वत्सलता को ढाल बनाकर उन्होंने अपने मन की मिठास भरी बात कह ही दी—और भगवान का मन भी उनके मन की मिठास में पगकर रह गया।

साग्रह निवेदन के भावको विनती से परिपूर्ण हठ कह सकतेहैं। उपासक के इस भावमें उसकी सामर्थ की छाप स्पष्ट लक्षित होती है मगर उसकी सामर्थ उपास्य की कृपापर आधारित है—उसके मन की यह कमजोरी छिपाये से भी नहीं छिपती। लेकिन वह सत्याग्रही है—इसलिये अपनी इस कमजोरी की वह कुछ चिंता नहीं करता। वह अपने लक्ष्य को जरूर प्राप्त करेगा—यह उसकी प्रतिज्ञा है—और वह अपनी प्रतिज्ञा के प्रति निष्ठावान है, वह अपने वचनों पर दृढ़ है, इस बात को भी वह भली प्रकार से जानता है। इसीलिये उपासक के इस भाव-कथन को साग्रह निवेदन की संज्ञा दी जाती है—

अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु, नाहिनै रुचि आन।
जा दिना तैं जनम पायौ, यहै मेरी रीति।
विषय विष हठि खात, नाही डरत करत अनीति।
जरत ज्वाला, गिरत गिरि तैं, स्वकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत, राखि सकत न ईस।
कामना करि कोटि कबहूँ किए बहुत पसु-घात।
सिंह-सावक ज्यौं तजैं गृह, इन्द्र आदि डरात।
नरक कूपनि जाइ जमपुर परयौ बार अनेक।
थके किंकर-जूथ जमके, टरत टारैं न नेक।
महा माचल, मारिबे की सकुच नाहिं न मोहिं।
किए प्रन हौं परयौं द्वारे लाज प्रन की तोहि।
नाहिँ काँचौ कृपा-निधि हौं, करौ कहा रिसाइ।
सूर तबहुं न द्वार छाँड़े, डारियौ कढ़िराई ॥ १०६ ॥

—'सूरसागर' पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

उपालम्भ में प्रिय के प्रियदर्शी रूप की प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं; मगर साग्रह निवेदन में प्रिय के सम्मुख अपनी कमजोरियों की एक पूरी सूची पेश की जाती है। उपालम्भ में भी माँग है और साग्रह निवेदन में भी। मगर उपालम्भ में जहाँ कर्त्ता का सहज-भाव अपना रूप सँवारे हैं, वहाँ साग्रह निवेदन में उसके सहज और सामर्थवान् स्वभाव के दर्शन होते है। इसीलिए उपालम्भ में उपासक अपनी माँग को बड़े ही सहज-भाव से अपने कथन के अंत में कह-भर देता है; मगर साग्रह निवेदन में वह उसे स्पस्ट रूप से ठोस शब्दों में रखता है। फिर अपने चरित्र की कमियों की ओर संकेत करता है—और तब फिर अपनी माँग को दोहराता है, साथ ही आग्रह करता है—मेरी माँग को पूरी करो, तुम कृपा के निधि हो। और तभी उसका मस्तिष्क उससे कहता है—नहीं करी तो-तू क्या करेगा? और उस समय अपने मस्तिष्क की बात सुनकर उसे

ऐसा जान पड़ता है—मानो, यह प्रश्न उससे उसका उपास्य कर रहा है—साथ ही वह यह भी कह रहा है—तुझे रिस कर मैं यहाँ भगा दूंगा। और इसके उत्तर में वह दृढ़ता के साथ अपने उपास्य से कहता है—'सूर तवहुं न द्वार छाँड़ैँ, डारिहौं कढ़िराई।' मेरी माँग पूरी करनी ही होगी। जब तक मेरी माँग पूरी नहीं होगी-मैं तेरा द्वार नहीं छोड़ सकता। यह मेरा आग्रह है—क्योंकि तू कृपा-निधि है।

उद्बोधन का भाव भी इन पदों में दृष्टिगोचर होता है। उद्-बोधन का अर्थ है—जगाना अथवा सचेत करना। भ्रम का निरा-करण कर, अपने अथवा पराये मन को, सत्यपथ की ओर अग्रसर करना। इस भाव में बुद्धि अथवा ज्ञान-पक्ष अधिक प्रबल रहता है, हृदय-पक्ष कम। इसीलिए इस भाव की सूचक पंक्तियोंमें सत्य निखर कर उभरता है। देखिए—

नहिँ अस जनम बारंबार।
पुरबलौ धौं पुन्य प्रगटयौ, लह्यौ नर-अवतार।
घटैपल-पल, बढ़ै छिन-छिन, जात लागिन बार।
धरनि पत्तागिरि परे तैं फिर न लागै डार।
भय-उदधि जमलोक दरसै, निपटही अँधियार।
सूर हरि कौ भजन करि-करि उतरि पल्ले-पार॥ ८८॥

—'सूरसागर' (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

भगवदनुग्रह का सिद्धान्त सूरदास का लक्ष्य है तथा शरणागति की छः विधियों और विनय को सात भूमिकाओं से ओत-प्रोत उनका भक्तियोग उस लक्ष्य-प्राप्ति का साधन! और अनन्य भक्ति, आत्म-समर्पण, वैराग्य, उपालम्भ, साग्रह निवेदन और उद्बोधन के भावों की सहायता से वह उस साधन-पथ पर आगे बढ़े हैं। इसीलिए उनका बढ़ना सैद्धान्तिक रूप से शुद्ध और युक्ति-सङ्गत और भावना के क्षेत्र में अद्वितीय है। वास्तव में अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए उन्होंने अपने पथ की प्रत्येक वस्तु को गहरी-अनुभूति और इस क्षेत्र

के आचार्यों की दृष्टि से देखने का सफल प्रयत्न किया है—इसीलिए विनय के पदों में उनकी भगवद्विषयक रति स्पष्ट और सभी दृष्टि कोणों से पुष्ट हैं। उसमें कुछ भी छूटने नहीं पाया है।

भक्ति नौ प्रकार की मानी जाती हैं, जिसे नवधा भक्ति के नाम से पुकारते हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(भाग० ७।५।२३)

(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण (४) चरण-सेवन (५) अर्चन, (६) वन्दन (७) दास्य (८) सख्य तथा (९) आत्मनिवेदन।

श्रीमद्भागवत के अनुसार भक्ति के ये ही नौ प्रकार हैं। भक्ति के इन प्रकार-भेदों की दृष्टि से अगर हम सूरदास की भक्ति को देखें तो कह सकते हैं—सूरदास की भक्ति दास्य और सख्य भाव की है। उनकी भक्ति का एक तीसरा स्वरूप वात्सल्य है, जो भक्ति के इन नौ प्रकारों से सर्वथा भिन्न उनका अपना है। वैसे नारद-भक्ति सूत्र में वात्सल्य नामक भक्ति की ओर संकेत अवश्य किया गया है, मगर भक्ति के इस-प्रकार भेद को मान्यता सर्वप्रथम सूरदास ने ही दी। और वात्सल्य-प्रधान जो कुछ भी रचना उन्होंने की वह साहित्यिक दृष्टि से भी विश्व-साहित्य में बेजोड़ है।

भगवत-प्रेम को प्राप्त करने के लिए की जाने वाली सेवा का नामहै—भक्ति! भक्ति में दो विभाग हैं—एक प्रकृति का और दूसरा प्रत्यय का। इसमें 'भज' प्रकृति है और 'ति' प्रत्यय है। 'भज' का अर्थ है—सेवा अथवा परिचर्या रूप क्रिया। 'ति' का अर्थ है—भाव! और इसी भाव शब्द में भगवत-प्रेम निहित है-इसीलिए इस सेवा अथवा परिचर्यारूप क्रिया-भाव को संयुक्त कर भक्ति के नाम से पुकारा जाता है। यहीकारण है जो उक्त नौ क्रियायें भी नवधा भक्ति के नाम से सम्बोधित की जाती हैं क्योंकि उनका कारण भी भगवत-प्रेम प्राप्त करना ही है।

वास्तव में, भगवत-प्रेम का यह साधन रूप भक्ति-मार्ग संक्षेप में नौ प्रकार का ही माना गया है; लेकिन इसके विस्तार पर ध्यान दें तो यह अनन्त प्रकार का दृष्टिगोचर होता है। सूरदास ने भी इसमें कई प्रकार जोड़े हैं—जैसे, वात्सल्य, दाम्पत्य, सगुण-रहस्यात्मक आदि!

इसलिए सूरदास की दास्य भक्ति को समझ लेनेके पश्चात् उनकी सख्य भाव की भक्ति को समझने से पूर्व भक्ति के उक्त नौ प्रकार-भेदोंके सम्बन्धमें सूक्ष्म रूपसे जान लेना प्रसङ्गानुकूल जानपड़ता है।

इस नवधा भक्ति का साक्षात् फल है, प्रेम—और मुख्य फल है, भगवत्प्राप्ति! साक्षात फल अथवा प्रेम प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी यह नवधा भक्ति अपने स्वाभाविक रूप में बराबर चलती रहती है-क्योंकि इसका परम फल प्राप्त करना अभी शेष रहता है—इस लिए फिर वह प्रेम-लक्षणा भक्ति के नाम से पुकारी जाती है। प्रेम-लक्षणा भक्तिके पश्चात फिर रागानुगा भक्ति का जन्म होता है—और भगवत्प्राप्ति इसी रागानुगा भक्ति के द्वारा होती है। इसे हम दूसरे शब्दों में मधुर भावकी भक्ति कह सकते हैं। भागवतकार ने श्रीमद् भागवत में इसी मधुर-भाव की भक्ति को प्रस्फुटित करने का कौशल प्रदर्शित किया है। भक्ति के इस रूप में भक्त भगवान के बीच कांत-कांता जैसा सम्बन्ध हो जाता है। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु विद्या-पति के घोर शृङ्गारी कहे जाने वाले पदों को भी गाते-गाते आत्म-विभोर हो जाया करते थे। विद्यापति के पश्चात् सूरदास ने इस मधुर-भाव की भक्ति का इतना विस्तृत और ऐसा अनोखा वर्णन किया है कि अनेक आधुनिक समालोचक उन पर विलासिता से परिपूर्ण शृङ्गार-प्रियता का दोषारोपण करने में गौरव का अनुभव करने लगे हैं; मगर उनसे हमारा निवेदन है कि पहिले वे भक्ति के मर्म को समझने का प्रयत्न करें-और तब सूरदास पर यह दोष लगाने का साहस! अन्यथा इस प्रकार तो वे अपने सीमित ज्ञानका ढिंढोरा स्वयं पीटते हैं।

ऊपर हम कह आए है—संक्षेप में भक्ति नौ प्रकार की ही मानी जाती है।

प्रथम भक्ति श्रवण है । सीधे-सादे शब्दों में जिसका अर्थ है, सुनना ! इष्टदेव के गुण-वर्णन को ध्यानपूर्वक सुनना। वास्तव में, श्रवण-भक्ति सर्वप्रथम अपेक्षित है–क्योंकि इष्टदेव के गुणों का वर्णन न सुनने से उसके स्वरूप और माहात्म्य का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर ज्ञान हुए बिना स्नेह ही क्यों कर और किस प्रकार हो सकता है और जब स्नेहही उत्पन्न नहीं हुआतो भगवद्‌दानन्द का आविर्भाव भी नहीं हो सकता—फिर, सायुज्य ही किस प्रकार प्राप्त हो सकता है और फिर मोक्ष किस प्रकार ! इसलिए श्रवण भक्ति सर्व-प्रथम अपेक्षित है।

दूसरी कीर्तन भक्ति है। श्रवण के द्वारा प्राप्त होने वाले इष्टदेव के सर्वस्वरूप, सर्वगुण और सर्व लीलाओं के वर्णन का कथन ही कीर्तन भक्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह कथन पद्यात्मक अथवा गद्यात्मक इस प्रकार भाषा के किसी भी रूप में हो सकता है। भक्ति के इस प्रकार की क्रिया के द्वारा भक्त की एकाग्र-चित्त होने की शक्ति का क्रमशः विकास होता रहता हैं। साथ ही दूषित बाह्य प्रवृत्तियों का प्रभाव उस पर से न्यूनाधिक रूप में कम होने लगता है।

स्मरण भक्ति तीसरी है। इष्टदेव के पूर्वोक्त सभी गुणों का श्रद्धापूर्वक चिन्तन करने का नाम स्मरण-भक्ति है। कीर्तन में ध्वनि ओठों के बाहर निकल भक्त की दूषित बाह्य प्रवृत्तियों से रक्षा करती हैं ; मगर स्मरण में वह ध्वनि भक्त के रोम-रोम में गूँजकर उसके मन और मस्तिष्क को शुद्ध कर डालती है।

और इस प्रकार दोनों ओर से शुद्ध हुआ भावी भक्त भगवान से स्नेह करने का अधिकारी बन जाता है। क्योंकि श्रवण, कीर्तन और स्मरण ये तीनों भक्ति स्नेहके पूर्व होती हैं, इसलिए इन्हें साधन रूपा भक्ति के नाम से भी पुकारा जाता है।

वास्तव में, भगवत-प्रेम का यह साधन रूप भक्ति-मार्ग संक्षेप में नौ प्रकार का ही माना गया है; लेकिन इसके विस्तार पर ध्यान दें तो यह अनन्त प्रकार का दृष्टिगोचर होता है। सूरदास ने भी इसमें कई प्रकार जोड़े हैं—जैसे, वात्सल्य, दाम्पत्य, सगुण-रहस्यात्मक आदि !

इसलिए सूरदास की दास्य भक्ति को समझ लेनेके पश्चात् उनकी सख्य भाव की भक्ति को समझने से पूर्व भक्ति के उक्त नौ प्रकार-भेदोंके सम्बन्धमें सूक्ष्म रूपसे जान लेना प्रसङ्गानुकूल जानपड़ता है।

इस नवधा भक्ति का साक्षात् फल है, प्रेम—और मुख्य फल है, भगवत्प्राप्ति ! साक्षात फल अथवा प्रेम प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी यह नवधा भक्ति अपने स्वाभाविक रूप में बराबर चलती रहती है-क्योंकि इसका परम फल प्राप्त करना अभी शेष रहता है—इस लिए फिर वह प्रेम-लक्षणा भक्ति के नाम से पुकारी जाती है। प्रेम-लक्षणा भक्तिके पश्चात फिर रागानुगा भक्ति का जन्म होता है-और भगवत्प्राप्ति इसी रागानुगा भक्ति के द्वारा होती है। इसे हम दूसरे शब्दों में मधुर भावकी भक्ति कह सकते हैं। भागवतकार ने श्रीमद् भागवत में इसी मधुर-भाव की भक्ति को प्रस्फुटित करने का कौशल प्रदर्शित किया है। भक्ति के इस रूप में भक्त भगवान के बीच कांत-कांता जैसा सम्बन्ध हो जाता है। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के घोर शृङ्गारी कहे जाने वाले पदों को भी गाते-गाते आत्म-विभोर हो जाया करते थे। विद्यापति के पश्चात् सूरदास ने इस मधुर-भाव की भक्ति का इतना विस्तृत और ऐसा अनोखा वर्णन किया है कि अनेक आधुनिक समालोचक उन पर विलासिता से परिपूर्ण शृङ्गार प्रियता का दोपारोपण करने में गौरव का अनुभव करने लगे हैं; मगर उनसे हमारा निवेदन है कि पहिले वे भक्ति के मर्म को समझने का प्रयत्न करें-और तब सूरदास पर यह दोष लगाने का साहस ! अन्यथा इस प्रकार तो वे अपने सीमित ज्ञानका ढिंढोरा स्वयं पीटते हैं।

ऊपर हम कह आए है—संक्षेप में भक्ति नौ प्रकार की ही मानी जाती है।

प्रथम भक्ति श्रवण है । सीधे-सादे शब्दों में जिसका अर्थ है, सुनना ! इष्टदेव के गुण-वर्णन को ध्यानपूर्वक सुनना। वास्तव में, श्रवण-भक्ति सर्वप्रथम अपेक्षित है—क्योंकि इष्टदेव के गुणों का वर्णन न सुनने से उसके स्वरूप और माहात्म्य का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर ज्ञान हुए बिना स्नेह ही क्यों कर और किस प्रकार हो सकता है और जब स्नेहही उत्पन्न नहीं हुआतो भगवद्‌दानन्द का आविर्भाव भी नहीं हो सकता—फिर, सायुज्य ही किस प्रकार प्राप्त हो सकता है और फिर मोक्ष किस प्रकार ! इसलिए श्रवण भक्ति सर्व-प्रथम अपेक्षित है।

दूसरी कीर्तन भक्ति है। श्रवण के द्वारा प्राप्त होने वाले इष्टदेव के सर्वस्वरूप, सर्वगुण और सर्व लीलाओं के वर्णन का कथन ही कीर्तन भक्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह कथन पद्यात्मक अथवा गद्यात्मक इस प्रकार भाषा के किसी भी रूप में हो सकता है। भक्ति के इस प्रकार की क्रिया के द्वारा भक्त की एकाग्र-चित्त होने की शक्ति का क्रमशः विकास होता रहता हैं। साथ ही दूषित वाह्य प्रवृत्तियों का प्रभाव उस पर से न्यूनाधिक रूप में कम होने लगता है।

स्मरण भक्ति तीसरी है। इष्टदेव के पूर्वोक्त सभी गुणों का श्रद्धापूर्वक चिन्तन करने का नाम स्मरण-भक्ति है। कीर्तन में ध्वनि ओठों के वाहर निकल भक्त की दूषित वाह्य प्रवृत्तियों से रक्षा करती हैं ; मगर स्मरण में वह ध्वनि भक्त के रोम-रोम में गूँजकर उसके मन और मस्तिष्क को शुद्ध कर डालती है।

और इस प्रकार दोनों ओर से शुद्ध हुआ भावी भक्त भगवान से स्नेह करने का अधिकारी बन जाता है। क्योंकि श्रवण, कीर्तन और स्मरण ये तीनों भक्ति स्नेहके पूर्व होती हैं, इसलिए इन्हें साधन रूपा भक्ति के नाम से भी पुकारा जाता है।

चौथी भक्ति पाद-सेवन है। भक्त की रुचि पाद-सेवन भक्ति की शक्ति है, जिसकी सहायता से वह इस ओर अग्रसर होता है, भक्त की श्रद्धा को अगर हम प्रेम का बीज कहें तो उसकी रुचि को प्रेम का अंकुर कह सकते हैं। इसका अर्थ है, श्रद्धा ही कुछ परिस्कृत रूप में रुचि बन जाती है। और तब भक्त भगवान की मूर्ति को साक्षात् परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्ताम समझ उनकी सम्पूर्ण परिचर्या रुचि-पूर्वक अपने हाथों से करता है—और यही परिचर्या सिद्धान्त रूपमें पाद-सेवन भक्ति कही जाती है।

पाँचवीं भक्ति अर्चन है। अर्चन का ही दूसरा नाम पूजा है। करीति से कुछ भिन्न तथा माहात्म्य की दृष्टि से किए जाने वाले उपचार जैसे—पञ्चामृतस्नान, अन्नकूट भोग आदि ही अर्चन या पूजा के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। इस क्रिया-भक्ति में भक्त की रुचि कुछ अधिक परिष्कृत और वृद्धि को प्राप्त हुई ज्ञात होती है।

वन्दन छठी भक्ति है। यह स्पष्ट रूप में भक्त के विनीत भाव की द्योतक है। भक्त अपनी दीनता प्रकट कर जब श्रद्धापूर्वक भगवान को प्रणाम निवेदन करता है, तब वह इस छठी भक्ति का अधिकारी समझा जाता है। इसका अर्थ है, भक्त को भगवान के दरबार में उपस्थित होने और प्रणाम निवेदन करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। और तब प्रेम के साथ-साथ उसका दैन्य-भाव और आगे बढ़ता है।

इसीलिए सातवीं भक्ति दास्य-भक्ति कही जाती है। दास्यभक्ति का अर्थ है—अन्याश्रय का त्याग कर एकाश्रय होकर रह जाना। वास्तव में, यह भक्ति प्रेम की कुमारावस्था का लक्षण है। भक्ति की इस अवस्था में पहुँचा हुआ भक्त भगवान के एक ही स्वरूप में लीन होकर सर्वदा के लिए उस स्वरूप का अनन्य दास बनकर रह जाता है।

सख्य-भक्ति आठवीं है। यह भक्ति प्रेम की पूर्णता में उपलब्ध होती है। वास्तव में, भक्ति की इस भावना में पहुँच कर भक्त,

भगवान के प्रति अपने बढ़े हुए प्रेम से प्रेरित होकर प्रभु के लिए हितकर उपचार करना अपना परम कर्तव्य समझने लगता है क्योंकि मित्रता का स्वरूप ही यह है। मित्र का हित करने के लिए मित्र, मित्र के द्वारा प्रेरित नहीं किया जाता, वरन् वह स्वतः प्रेरित होता है। मित्रता अथवा सख्य के स्वरूप के विषय में एक स्थानपर लिखा है—

करावित्र शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी।
अप्रेरितं प्रियं कुर्यात्तन्मित्रं मित्रमुच्यते॥

मित्र अपने मित्र का हित स्वतः प्रेरित हो उसी प्रकार करता है जिस प्रकार शरीरका हित हाथ और नेत्रों का हित पलक करते हैं

आत्मनिवेदन-भक्ति नवमी है। परिकर सहित स्वयँ को प्रभुके प्रति निवेदन कर देने को आत्मनिवेदन-भक्ति कहते हैं। आत्मनिवेदन दो प्रकार का होता है—एक फलस्वरूप और दूसरा साधन रूप। दोनों में केवल फल और साधन का ही अन्तर है। मगर इसी अन्तर के कारण इसमें एक भेद और उत्पन्न हो जाता है और वह है—साधनरूप आत्मनिवेदन एकान्तरित आविर्भूत परमात्मा में होता है। और फलरूप आत्मनिवेदन अनन्तरित साक्षात पर मात्मा में!

ऊपर हमने भक्ति और उसके मुख्य नौ प्रकार-भेदों के सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्मरूप में कहने का प्रयत्न किया है। मगर भक्ति के उक्त नौ भेदों के अतिरिक्त ज्ञान और कर्म की भांति अनेक भेद और भी हैं। इन नौ भेदों के नौ भेद और हैं—और इन इक्यासी भेदों के सूक्ष्म भेद अनन्त हैं। इस प्रकार भक्ति भी अनेक प्रकार भेदों में विभाजित है। लेकिन भक्ति के उक्त नौ भेद ही मुख्य हैं भक्ति के इन भेदों के सम्बन्ध में कहा जाता है-अगर किसी प्रकार के फल की इच्छा विना यह नवधा भक्ति प्रभु को अर्पित कर जाये-तो, वही भक्ति अथवा 'अर्पित भक्ति' सर्वोत्तम है।

और इसी सर्वोत्तम प्रकार की 'अर्पित भक्ति' को सूरदास ने

अपनी कविता में गाया है। वैसे उनकी भक्तिभावना मुख्य रूप से दास्य और सख्य भाव की मानी जाती है; मगर उनकी कविता में आसक्ति अथवा भगवद्भक्ति के अन्य प्रकार भी दृष्टिगोचर होते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने थीसिस 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में आसक्ति के प्रकार-भेदों की दृष्टि से सूरदास-रचित कृष्ण-लीला सम्बन्धी पदों को निम्न प्रकार से रक्खा है *।

१–गुण माहात्म्यासक्ति	(श्रवण, कीर्तन)	भ्रमर लीला
२–रूपासक्ति	(वन्दन)	दानलीला
३–पूजासक्ति	(चरण-सेवन, अर्चन)	गोवर्धनधारण
४–स्मरणासक्ति	(स्मरण)	गोपिकावचन परस्पर
५–दास्यासक्ति	(दास्य)	मुरली-स्तुति (विनय-पद)
६–सख्यासक्ति	(सख्य)	गोचारण
७–कान्तासक्ति	(सख्य)	गोपिका-विरह
८–वात्सल्यासक्ति	( )	यशोदा-विलाप
९-आत्मनिवेदनासक्ति	(आत्मनिवेदन)	भ्रमर-गीत
१०–तन्मयतासक्ति	(”)	”
११–परम विरहासक्ति	(”)	”

इस प्रकार हम देखते हैं, सूरदास की भक्ति-भावना सैद्धाँतिक रूप में भी पूर्ण और पुष्ट है। उन्होंने भक्ति के किसी भी सिद्धाँत को उड़ती हुई नजरसे देखने का प्रयत्न नहीं किया है। बल्कि उसमें वह पूर्णरूपेण रमे हैं—यही कारण है जो वह एक उच्चकोटि के भक्त और कवि हैं।

यह हम पहिले ही कह आए हैं कि सूरदास ने विशेष रूप से दास्य और सख्य भाव की भक्ति के पद ही अधिकाँश में लिखे हैं—इसलिए उनकी भक्ति-भावना दास्य और सख्य भाव की मानी

---

*कोष्टक में लिखे हुए भक्ति के नवधा रूपों को श्री रामरतन भटनागर रचित 'सूर साहित्य की भूमिका' में से उद्धृत किया गया है।

जाती है। उनकी दास्य भक्ति के सम्बन्ध में हम पीछे लिख ही आये हैं, अब उनकी सख्य भक्ति के विषय में विचार करेंगे।

नवधा भक्ति में दास्य भाव की भक्ति सातवीं है और सख्य भाव की आठवीं। इन दोनों का स्वरूप-निरूपण करते हुए हमने लिखा है—प्रेम की कुमारावस्था में दास्य भक्ति प्रस्फुटित होती है और उसकी पूर्णता की अवस्था में सख्य भक्ति। वास्तव में, जब वल्लभाचार्य और सूरदास की भेंट हुई, उस समय तक सूरदास का भगवत्-प्रेम अपनी चरमावस्था पर पहुंच चुका था। यही कारण है जो आचार्य ने उन्हें 'भगवत-जस' वर्णन करने की आज्ञा दी और अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में सहायक समझ उन्हें अपने साथ ले लिया और सूरदास की भक्ति-भावना आचार्य का संकेत पाते ही, भक्ति-पद्धति के मार्ग पर, एक कदम और आगे बढ़ी और सख्य भक्ति के रूप में बदल गई!

सूरदास की सख्य भक्ति का प्रारम्भ हमें उक्त प्रकार से ही ज्ञात होता है। यहाँ पर 'वल्लभाचार्य की आज्ञा' इस वाक्य का अर्थ केवल इतना ही जान पड़ता है—शायद 'वार्त्ता' में यह गुरू के सम्मान के लिए ही लिखा गया है। अन्यथा, यह सूरदास के प्रेम की पूर्णता ही थी, जिसने वल्लभाचार्य को बाध्य किया—वह सूर-दास को इस प्रकार की आज्ञा दें—और सूरदास विनय के स्थान पर सख्य के पदों की रचना करने लगें।

भक्त का भगवतप्रेम जब अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है—तब अपनी रुचि-विशेष के अनुसार भक्त अपने भगवान में सखा, पति, पत्नि आदि इसी प्रकार के सम्बन्धों का दर्शन करने लगता है। अपनी इसी रुचि-विशेप के कारण मीरा ने कृष्ण को पति-रूप में भजा और सूरदास ने पुत्र, सखा और प्रियतम के रूप में। इस सम्बन्ध में जैसे-जैसे उनकी रुचि बदलती गई—वैसे ही वैसे उनकी सख्य भक्ति का रूप भी निखरता गया। हो सकता है, उनके इस रुचि-परिवर्तन का मुख्य कारण पुष्टिमार्गीय पूजा-पद्धति हो—

क्योंकि वह महाप्रभु वल्लभाचार्य की आज्ञा से श्रीनाथ जी के मन्दिर में मुख्य कीर्तनिया के पद पर नियुक्त हुये और अपने जीवन के अन्तिम दिन तक उस पद पर रहकर कार्य करते रहे।

सम्भवतः सूरदास ने कृष्ण को सर्वप्रथम पुत्र-रूप में भजा, फिर सखा के रूप में और अन्त में गोपियों के प्राणाधार अथवा प्रियतम के रूप में ! कृष्ण के इन तीनों रूपों में प्रेमलक्षणाभक्ति के कवि के लिए वह सभी सामग्री उपलब्ध है, जो उसकी आवश्यकता कही जा सकती है। प्रेम के दोनों ही पक्ष—संयोग और वियोग अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में उक्त तीनों रूपों में ही दृष्टिगोचर होते हैं—इसीलिए सूर वात्सल्यासक्ति का भी ऐसा भावपूर्ण और सम्पूर्ण चित्र अङ्कित करने में सफल हुए हैं—कि उनके उस चित्र को देखकर ठगा-सा रह जाना पड़ता है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कृष्ण के बाल-रूपको ही इष्टदेव के रूप में प्रतिष्ठित किया है। श्रीनाथ जी की पूजा-विधि भी कुछ इसप्रकार की है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण के बाल-रूप की सभी आवश्यकताओं और क्रीड़ाओं की पूर्ति विशेष आयोजन के साथ की जाती है। भागवत के अनुसार प्रातःकाल से रात्रि को शयन करने तक जो भी कृष्ण की दिनचर्या है—वह सभी उस पूजा-विधि में सम्मिलित है। इसीलिए हम समझते हैं, श्रीनाथ जी के मुख्य कीर्तनिया होने के नाते सूरदास का सर्वप्रथम इष्टदेव के इसी रूपसे साक्षात्कार हुआ—और वह भगवान की बाल-लीला सम्बन्धी पद बनाकर कीर्तनिया के रूपमें उन्हें अपने इष्टदेव के सम्मुख गाने लगे।

श्रीमद्भागवत में कृष्ण की बाल-लीलाओं का सम्बन्ध न केवल यशोदा, नन्द और उनके सखाओं के साथ ही दर्शाया गया है—बल्कि वह गोकुलकी गोपियों के साथभी प्रस्फुटित हुआ है। वास्तव में, यशोदानन्दन कृष्ण गोकुल-निवासी सभी स्त्री-पुरुषोंके स्नेह-भाजन हैं। और इसके दो ही मुख्य कारण हैं—बालकृष्ण की विस्मयजनक क्रीड़ायें तथा उनका अनोखा और मनमोहक रूप ! यशोदा

और नन्द का स्नेह माता–पिता जैसा है, सखाओं का सखा–जैसा; मगर गोपियों के स्नेह में नारी की रति-भावना अपना रूप सँवारे है। कृष्ण से सम्बन्धित उनकी प्रत्येक बात में पुरुष के प्रति नारी के स्वाभाविक आकर्षण के दर्शन होते हैं—इसीलिए स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे दाम्पत्य रति कहकर पुकारा है। और इस दाम्पत्य रति का चित्रण सूर ने अपनी अद्भुत क्षमता के साथ उपस्थित किया है। सत्य यह है कि उनकी सख्य भाव की भक्ति इस वर्णन में सशरीर उपस्थित हुई—सी जान पड़ती है। और हमारे इस कथन के साक्षी उनके भ्रमर गीत के पद हैं, जिन्हें श्रीरामरतन भटनागर ने नवधा भक्ति में आत्मनिवेदन नामक नवीं भक्ति के अन्तर्गत् रक्खा है—और जो वास्तव में, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति तथा परमविरहासक्ति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

सूरदास वास्तव में भगवान के बाल-स्वरूप के ही भक्त और कवि हैं। यह हम लिख ही आये हैं, भक्त का उत्कट प्रेम ही उसकी सख्य भक्ति का आधार है, जिस आधार पर वह अपनी भक्ति-भावना के भवन का निर्माण करता है। वास्तव में, प्रेम की इस अवस्था में प्रेमी अपने प्रियको जिस रूपमें भी देखता है, वह उसके उसी रूप के अनेक प्रशंसात्मक चित्र चित्रित करता है—क्योंकि इष्टदेव की अलौकिकता ही भक्त के उत्कट प्रेम की आधार-शिला है और अपने प्रिय की इस आधार-शिला-रूप अलौकिकता को वह कभी भी नहीं भूलता।

इसीलिए सूरदास अपनी वात्सल्यासक्ति के ऐसे स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी चित्र उतार सके हैं कि उनके इन चित्रों में बाल–जीवन अपनी समस्त अनुभूतियों और विशेषताओं के साथ सजीव हो-उठा है। यह सत्य है, उनके वात्सल्य भाव के इन पदों में, अपने इष्टदेव के प्रति उनका उत्कट प्रेम, यशोदा और नन्द के स्नेह के रूप में प्रवाहित हुआ है; मगर उसमें वे सभी गुण विद्यमान हैं, जो उनकी प्रेम-लक्षणा भक्ति के विशिष्ठ अङ्ग हैं। इसीलिए बाल-

कृष्ण के अलौकिक और विस्मय-जनक रूप के प्रति वह अपने इन पदों में पग-पग पर सजग दीख पड़ते हैं। कृष्ण को यशोदा और नन्द के रूप में पुत्र-वत् स्नेह करते हुए भी वह अपने इष्टदेव की अलौकिकता को नहीं भूल पाये हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूरदास की वात्सल्यासक्ति उनकी सख्य भक्ति का ही एक अङ्ग है। जान पड़ता है, वात्सल्यासक्ति उनकी सख्य भक्ति का प्रारम्भ है, सख्यासक्ति उसका केन्द्र और कांतासक्ति उसकी पराकाष्ठा। वास्तव में, उनके इष्टदेव बालक कृष्ण की बाल-लीलाएँ स्वतः ही ऐसी हैं जिनमें उनकी आसक्ति के उक्त तीनों ही रूप समाये हैं। आसक्ति के प्रथम दो रूपतो प्रत्येक बालक के जीवन में न्यूनाधिक रूप में मिल ही जाते हैं, मगर तीसरा रूप जिसे हमने कान्तासक्ति के नाम से पुकारा है, मिलना नितान्त असम्भव जान पड़ता है। किसी नवयुवक के जीवन में तो ऐसी कोई घटना घटित हो सकती है; मगर दस वर्ष तक की अवस्था के बालक के जीवन में ऐसी घटना का होना असम्भव ही ज्ञात होता है। लेकिन अलौकिक बालक कृष्ण के जीवन में कान्तासक्ति समन्वित घटनाओं का मिलना बहुत साधारण-सी ही बात ठहरती है-क्योंकि,

बालक कृष्ण कोई साधारण बालक नहीं हैं। बाल-रूप में वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही हैं, जिन्होंने अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त नर-अवतार लिया है। जब भगवान को काल, अवस्था आदि इस प्रकार के बंधन स्वयँ में नहीं बाँध पाते तो उनके बाल-रूप कृष्ण के ऊपर ही फिर किस प्रकार उनकी छाया पड़ सकती है। जब वह प्रभु ही इन सबका सृजनकर्त्ता है—तो यह प्रश्न ही निरर्थक है। इसीलिए सांसारिक दृष्टि से दसवर्ष से भी कम अवस्था के कृष्ण दधिदान की लीला में रूप-यौवन का दान लेकर तरुण गोपियों को सन्तुष्ट कर-सकने में समथ में हुये हैं।

इसी प्रसँग में अपनी विविध भाव-सम्पन्न भक्ति के रहस्य का

उद्घाटन करते हुए एक स्थल पर कृष्ण कहते हैं—जो मुझे जिस प्रकार भजता है, उसे मैं उसी प्रकार प्राप्त होता हूँ। मैं अन्तर्यामी हूँ। सबके मन की बातों को जानता हूँ—अतः योगी को योगी और कामी को कामी होकर दर्शन देता हूँ—

झूठी बात कहा मैं जानौं।
जो मोकौं जैसैं हि भजै री, ताकौं तैसैं हि मानौं॥
तुम तप कियौ मोहिं कौं मन दै, मैं हौं अन्तरजामी।
जोगी कौं जोगी ह्वै दरसौं, कामी कौं ह्वै कामी॥
हमकौं तुम झूठे करि जानति, तौ काहैं तप कीन्हौ।
सुनहु सूर कत भई निठुर अब, दान जात नहिं दीन्हौ॥१५६३॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

वास्तव में, श्रीनाथजी की पूजा-विधि में सूरदास ने बालकृष्ण की जिन-जिन लीलाओं का भी योग देखा, उन्हीं लीलाओं का पूर्ण और सांगोपांग वर्णन अपनी कविता में किया। पुष्टि मार्ग में ये लीलाएँ हीं भक्त की सर्वस्व हैं। इस सम्बन्ध में वल्लभाचार्य का विश्वास था, भगवान की इन लीलाओं में नित्यप्रति भाग लेने से भक्त भगवत्कृपा को प्राप्त करता है—और इस भगवत्कृपा के सम्मुख मुक्ति तुच्छ है। यही कारण है, जो इस मार्ग के अधिकारी भक्त इष्टदेव बालकृष्ण की इन सभी लीलाओं में स्वतः प्रेरित मन से भाग लेते थे और रचना करने में समर्थ भक्त अनुकूल अवसरों पर इन लीलाओं से सम्बन्धित स्वरचित पद भी गाया करते थे। और सूरदास ऐसे ही उन कवि-भक्तों में से एक थे—और उनका साहित्य भी उनके इन्हीं पदों का संग्रह है, जिसे हम उन्हीं के नाम पर 'सूर-साहित्य' कहकर पुकारते हैं।

पीछे हम लिख ही आये हैं कि सूरदास की भक्ति-भावना में आसक्ति के सभी-प्रकार-भेदों का निरूपण हुआ है। वास्तव में, सूरदास का हृदय, अपने इष्टदेव के प्रति, गाढ़े प्रेम से सराबोर था। इसलिए अपने प्रिय के प्रत्येक गुण को उन्होंने आनन्द में मग्न

होकर अपनी कविता में सँजोया है। और प्यारे के इस गुण वर्णन में उनके हृदय की प्रत्येक दशा का चित्र सजीव हो उठा है। यही उनकी भक्ति-भावना की पूर्णता का रहस्य है, जो भक्ति-सिद्धान्त की दृष्टि से भी पूर्ण पुष्ट और अतुलनीय वैभवशाली जान पड़ता है।

नारदभक्ति सूत्र संख्या ८१ के आधार पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने ग्यारह प्रकार की भक्ति प्रचलित की थी, जो ग्यारह प्रकार की आसक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुई। जिनमें से गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति और आत्मनिवेदनासक्ति—इस प्रकार आसक्ति के छः प्रकार-भेदों के सम्बन्ध में दास्यभक्ति के प्रसङ्ग में हम उदाहरण सहित लिख आये हैं—अब हम वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, तन्मयतासक्ति, और परमविरहासक्ति के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

सख्यासक्ति और कांतासक्ति के समान ही हमने सूरदास की वात्सल्यासक्ति को उनकी सख्यभक्ति का ही एक अङ्ग माना है। साथ ही हमने यह भी लिखा है कि आसक्ति की इस अवस्था में उनका प्रेम यशोदा और नन्द के स्नेह के रूप में प्रवाहित हुआ है। जो प्राकृतिक और स्वाभाविक है। साल-दो साल के बच्चे को प्यार करने के लिये हमें अपने माता-पिता वाले कलेजे को ही टटोलना होगा—और यही सूरदास ने भी किया है। फिर, वह इसमें पूर्णरूपेण रमे हैं। कृष्ण की बाल-लीलाओं के साथ नन्द के बनिस्बत यशोदा का गहरा सम्बन्ध है—क्योंकि वह मा है। इसीलिये, सूरदास ने अपनी वात्सल्यासक्ति के अधिकाँश पदों की रचना कृष्ण और यशोदा के प्रसङ्ग को लेकर ही की है। देखिये—

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरे पैया।
कबहुँक सुन्दर बदन बिलोकति, उर आँनद भरिलेति बलैया।
कबहुँक कुल-देवता मनावति, चिरजीवहु मेरौ कुँवर कन्हैया।

कबहुँक बल कौं टेरि बुलावति, इहिं आँगन खेलो दोउ भैया।
सूरदास स्वामी की लीला, अति प्रताप बिलसत नँदरैया ॥११५॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अथवा

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नन्द कैं आँगन बिंब पकरिबैं धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कों, कर सौं पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजत॥
बाल-दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि पुनि नन्द बुलावति।
अँचरा तर लै ढाँकि सूर के प्रभु कौं दूध पियावति ॥११०॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

संयोग और वियोग—प्रेम के यही दो पक्ष हैं। संयोग में मिलन का सुख हँसता है और वियोग में दुख की व्याकुलता रोती और आहें भरती है। सूर ने अपनी वात्सल्यासक्ति के भी दोनों ही चित्र अङ्कित किये हैं। उसका संयोग पक्ष उनके नन्हे-से इष्टदेव के रूप और लीला-वर्णन पर आधारित है; मगर उसके वियोग पक्ष में उन्होंने यशोदा के विलाप को ही प्रमुखता दी है। मानो, इष्टदेव का सामीप्य खो जाने पर सूर व्याकुल हो गये हैं—अब उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता है—और संयोग-समय की सभी बातें उन्हें रहरहकर याद आरही हैं। यशोदा के रूप में सूर के वियोगी हृदय की व्याकुलता देखिये—

सँदेसौ देवकी सौं कहियो।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियो॥
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैते माखन-रोटी भावै॥

तेल उबटनौ अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करिकै न्हाते॥
सूर पथिक सुनि मोहिँ रैनि-दिन, बढ्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन' ह्वै है करत सँकोच ॥३१७५॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्द (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अथवा

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कुछ, वैसेहिं धरयौ रहै।
को उठि प्रातहोत लै माखन, को कर नेति गहै॥
सूने भवन, जसोदा सुत के, गुन गनि सूल सहै।
दिन उठि घर घेरत हीं ग्वारिनि, उरहन कोउ न कहै॥
जो ब्रज में आनन्द हुतौ, मुनि-मनसा हू न गहै।
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल, कौड़ी हू न लहै ॥३१८०॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

वात्सल्यासक्ति के समान ही सूर ने अपनी सख्यासक्ति और कान्तासक्ति के भी संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष चित्रित किये हैं। उनकी वात्सल्यासक्ति को हमने उनकी सख्यभक्ति का प्रारम्भ माना है, उनकी सख्यासक्ति को केन्द्र और उनकी कान्तासक्ति को उसकी पराकाष्ठा! वास्तव में, अपनी वात्सल्यासक्ति के द्वारा सूर अपने इष्टदेव का सामीप्य प्राप्त कर सके हैं, सख्यासक्ति की सहायता से वह अपने इष्टदेव के हृदयको जीत पाये हैं और कान्तासक्ति के आधार पर वह अपने इष्टदेव के रूप में एकाकार होगये हैं।

यही कारण है, जहाँ वात्सल्यासक्ति के वर्णन में यशोदा, नन्द आदि के रूप में उनके अपने हृदय के ही उद्गार निहित हैं, वहाँ सख्यासक्ति के वर्णन में वह अपने इष्टदेव के हृदय को भी चित्रित कर पाये हैं। मानो, सख्यासक्ति में उन्हें अपने इष्टदेव की कृपा प्राप्त होना प्रारम्भ हो गई है।

सूरदास की सख्यासक्ति का प्रारम्भ तब से होता है, जब से कृष्ण सखाओं के साथ बाहर खेलने योग्य हो गये हैं—इसलिये

उनकी सख्यासक्ति के अधिकाँश पदों में कृष्ण के विविध खेलों का ही वर्णन दृष्टिगोचर होता है। और अपने इष्टदेव के खेलों के इन वर्णनों में सूरदास ऐसे रमे हैं—मानो, वह भी कृष्ण के एक सखा हैं और इस रूप में अपने इष्टदेव के बराबर के साथी। इसीलिए उनके इन पदों में सखा की-सी ढीठता का भी समावेश हुआ है। कह सकते हैं, उनके इन पदों में सखा का सौहार्द्र भी है और उसका-सा अक्खड़पन भी। इसीलिए कभी वह सुवल के रूप में दिखलाई पड़ते हैं और कभी सुदामा और श्रीदामा के रूप में। कृष्ण के अन्य और भी गोप-सखा हैं; परन्तु सूरदास ने बार-बार उनके उक्त सखाओं के नाम ही गिनाये हैं। कृष्ण के बड़े भाई बलराम का नाम भी अनेक स्थलों पर दीख पड़ता है। अपने अनुज कृष्ण के प्रति बलराम के दो भाव हैं—एक भाव उनका वही है, जो सुवल, सुदामा और श्रीदामा का है– कृष्ण के साथ प्रीतिपूर्वक खेलना भी और उनको चिढ़ाना भी। मगर दूसरा भाव उनका वह भाव है, जिसमें वह कृष्ण को बार-बार अविनाशी, अजर-अमर, साक्षात् नारायण कह-कहकर पुकारते हैं। उन्हें भगवान् बतलाते हैं। और उनका यह भाव विशेषरूप से ऐसे स्थलों पर दीख पड़ता है, जब वह इस रूप में कृष्ण की महत्ता बतला-बतलाकर यशोदा और नन्द, सखाओं और गोकुल-निवासियों को मृत्यु के मुख में फँसे कृष्ण के सम्बन्ध में निश्चिन्त करना चाहते हैं। ऐसे ही एक स्थल का एक पद देखिए—

ब्रज-वासी सब उठे पुकारि। जल भीतर कह करत मुरारि।
सङ्कट सैं तुम करत सहाइ। अब क्यौं नाहिँ बचावत आइ।
मातु-पिता अतिही दुख पावत। रोइ-रोइ सब कृष्न बुलावत।
हलधर कहत सुनहु ब्रज बासी। वै अन्तरजामी अविनासी।
सूरदास प्रभु आनँद रासी। रमा सहित जल ही के वासी ॥५४६॥

—'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

उपर्युक्त पद कालीदह नामक लीला के अन्तर्गत है। एक दिन

गोप बालक गेंद-तड़ी का खेल खेलते हैं। सभी बालक अपने अपने घरों से बाहर निकले। कृष्ण ने गेंद-तड़ी का खेल खेलने की इच्छा प्रगट की—श्रीदामा अपने घर वापिस जाकर गेंद ले आये। गेंद अच्छी थी-कृष्ण को पसन्द आई-और वहीं पर खेल शुरू होगया। मगर कृष्ण चाहते हैं, खेल जमना के तट पर हो, इसलिए परस्पर गेंद मारते हुए वह सभी सखाओं को जमना के तट की ओर ले चले—देखिए,

खेलत स्याम सखा लिए संग।
इक मारत इक रोकत गेँदहिँ, इक भागत करि नाना रँग।
मार परसपर करत आपु मैँ, अति आनँद भए मन माहिँ।
खेलत ही मैँ स्याम सबनि कौँ, जमुना तट कौं लीन्हे जाहिँ।
मारि भजत जो जाहि, ताहि सो मारत, लेत आपनौ दाउ।
सूर स्याम के गुन को जानै कहत और कछु और उपाउ ॥५३३॥
—'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

और जमुना के तट पर पहुंचकर खेल जमा। कुछ ही देर के पश्चात्, खेल के बीच, कृष्ण ने श्रीदामा के गेंद मारी-श्रीदामा ने थोड़ा मुड़कर स्वयँ को गेंद की मार से बचा लिया—गेंद जमना में उस स्थल पर जाकर गिरी, जहाँ कालिया नामक भयँकर नाग बहुत दिनों से रहता था। और श्रीदामा के शब्दों में सूर का अक्खड़पन जाग उठा—

स्याम सखा कौँ गेंद चलाई।
श्रीदामा मुरि अँग बचायौ, गेँद परी कालीदह जाई।
धाइ गही तब फेँट स्याम की, देहु न मेरी गेँद मँगाई।
और सखा जनि मोकौँ जानौ, मोसौँ तुम जनि करौ ढिठाई।
जानि बूझि तुम गेँद गिराई, अब दीन्हेँ ही बनै कन्हाई।
सूर सखा सब हँसत परसपर, भलीकरी हरि गेँद गँवाई ॥५३५॥
—'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

और कृष्ण कहने लगे—

फेँट छाँड़ि मेरी देहु श्रीदामा।
काहे कौँ तुम रारि बढ़ावत, तनक बात कैँ कामा।
मेरी गेँद लेहु ता बदलैँ, बाँह गहत हौ धाइ।
छोटौ बड़ौ न जानत काहूँ, करत बराबरि आइ।
हम काहे कौँ तुमहिँ बराबर, बड़े नन्द के पूत!
सूर स्याम दीन्हेँ ही बनिहै, बहुत कहावत धूत ॥५३६॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

और श्रीदामा ने कृष्ण की फेँट को नहीं छोड़ा। भला प्रेमी सूरदास को यह किस प्रकार अच्छा लग सकता है कि वह कृष्ण—अपने इष्टदेव की फेंट को छोड़ दें। उन्होंने सोचा, न जाने किस तरह तो यह सुअवसर हाथ लगा है - कि वह अपने इष्टदेव के इतने समीप आ सके हैं—फिर, वह स्वयं ही, बातों में आकर, ऐसे सुन्दर अवसर को खो क्योंकर दें—और उन्होंने फेंट को नहीं छोड़ा। और वह बोले—

हमहीँ पर सतरात कन्हाई।
प्रथमहिँ कमल कंस कौँ दीजै, डारहु हमहिँ मराई।....... .... ..
॥५३८॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

मगर कृष्ण ने रिसकर अपनी फेंट को छुड़ा लिया। और—

रिस करि लीन्ही फेँट छुड़ाइ।
सखा सबै देखत हैँ ठाढ़े, आपुन चढ़े कदम पर धाइ।
तारी दै-दै हँसत सबै मिलि, स्याम गए तुम भाजि डराइ।
रोवत चले श्रीदामा घर कौँ, जसुमति आगैँ कहिहौँ जाइ।
सखा-सखा कहि स्याम पुकारयौ, गेँद आपनौ लेहु न आइ।
सूर स्याम पीतांबर काछे, कूदि परे दह मैँ भहराइ ॥५३६॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

तो, सूरदास के मन का आनन्द जाता रहा। सुख छिन गया और वह रोने लगे। मगर कृष्ण ही इस बात को किस प्रकार

सहन कर सकते थे कि उनका भक्त दुखी हो और वह रोये—तो उसे 'सखा', 'सखा' कहकर प्यार से पुकारा—और अपने भक्त की इच्छा के लिये काली-दह में भहरा कर कूद पड़े।

और पिता-सूर (नन्द के रूप में) का कलेजा हिल गया। मा-सूर (यशोदा) की छाती फटने लगी। सखा-सूर चीत्कार कर उठे। और सपूने ब्रज में हाहाकार मच गया। मानो सूर का रोम-रोम रो पड़ा; मगर भ्राता बलराम-सूर ने अपने अनुज की शक्ति को पहिचाना—मानो, इष्टदेव के गुणों का ध्यान आया। तो सबको समझाकर वह कहने लगे—

हलधर कहत सुनहु ब्रज-वासी। वै अन्तरजामी अविनासी।
सूरदास प्रभु आनन्द-रासी। रमा सहित जल ही के वासी॥

अथवा

ब्रज-वासी सब भए विहाल।
कान्ह-कान्ह कहि-कहि टेरत हैं व्याकुल गोपी-ग्वाल।
अब को बसैं जाइ ब्रज हरि-बिनु, धिक जीवन नर-नारि।
तुम बिनु यह गति भई सबनि की, कहाँ गए बनवारि।
प्रातहि तैं जल-भीतर पैठे, होन लग्यौ जुग जाम।
कमल लिए सूरज प्रभु आवत सब सौं कही बलराम॥५६२॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

वात्सल्यसक्ति के समान सूरदास ने अपनी सख्यासक्ति के अन्तर्गत सभी कुछ कहा है। इसीलिये उनके इन पदों में सखा का त्याग भी है और उसका धृष्ट व्यवहार भी! वास्तव में, सख्य भाव के यही दो लक्षण हैं, जो मित्र की मित्रता को कायम रखते हैं। मित्र का मित्र के लिये त्याग उसकी पवित्रता का द्योतक है और उसका धृष्ट व्यवहार उसकी समानता का परिचायक! इसीलिये सूरदास ने अपनी सख्यासक्ति के अन्तर्गत इन दोनों लक्षणों पर विविध रूप में बार-बार प्रकाश डाला है। सखा-रूप में सूरदास ने उक्त दोनों ही लक्षणों से युक्त स्वयं को भी चित्रित

किया है और अपने इष्टदेव को भी! इसीलिये सूर के सखा कृष्ण अनेक स्थलों पर बार-बार यही कहते हैं—

वृन्दावन मौकौं अति भावत।
सुनहु सखा तुम सुबल, श्रीदामा, ब्रज तैं बन गौ-चारन आवत।
कामधेनु सुरतरु सुख जितने, रमा सहित बैंकुठ भुलावत।
इहि वृन्दावन, इहि जमुना-तट, ये सुरभी अति सुखद चरावत।
पुनि-पुनि कहत स्याम श्रीमुख सौं, तुम मेरें मन अतिहिं सुहावत।
सूरदास सुनि ग्वाल चकृत भए, यह लीला हरि प्रगट दिखावत ।४४६।

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

और सूरदास के सखा कृष्ण का यह कथन केवल कथन ही नहीं है—उनके वह व्यवहार में भी निहित है—

ग्वालनि कर तैं कौर छुड़ावत।
जूठौ लेत सबनि के मुख कौं, अपनैं मुख लैं नावत।
षटरस के पकवान धरे सब, तिनमैं रुचि नहिँ लावत।
हा-हा करि-करि माँग लेत हैं कहत मोहिँ अति भावत।
यह महिमा येई पै जानत, जातैं आपु बँधावत।
सूर स्याम सपनैं नहिँ दरसत मुनि जन ध्यान लगावत ।।४६८।।

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

इस प्रकार हम देखते हैं, वात्सल्यासक्ति के समान सूरदास ने सख्यासक्ति को भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में चित्रित किया है। वास्तव में, कृष्ण की गेंद-तड़ी-लीला, जिससे सम्बन्धित कई पद हमने ऊपर दिये हैं, सूरदास की सख्यासक्ति की अभूतपूर्व व्यञ्जना है! सख्यासक्ति के अन्तर्गत आने वाले सभी भाव उसमें नैसर्गिक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। संयोग और वियोग—प्रेम के दोनों ही पक्ष उसमें चित्रित हुये हैं। यही कारण है, जो सख्यासक्ति की चरम सीमा उसमें लक्षित होती है।

पीछे हम लिख ही आये हैं, सूरदास की वात्सल्यासक्ति उनकी सख्य भक्ति का प्रारम्भ है, सख्यासक्ति उसका केन्द्र और कांतासक्ति

सहन कर सकते थे कि उनका भक्त दुखी हो और वह रोये—तो उसे 'सखा', 'सखा' कहकर प्यार से पुकारा—और अपने भक्त की इच्छा के लिये काली-दह में भहरा कर कूद पड़े।

और पिता-सूर (नन्द के रूप में) का कलेजा हिल गया। मा-सूर (यशोदा) की छाती फटने लगी। सखा-सूर चीत्कार कर उठे। और सगूने ब्रज में हाहाकार मच गया। मानो सूर का रोम-रोम रो पड़ा; मगर भाता बलराम-सूर ने अपने अनुज की शक्ति को पहिचाना—मानो, इष्टदेव के गुणों का ध्यान आया। तो सबको समझाकर वह कहने लगे—

हलधर कहत सुनहु ब्रज-बासी। वै अन्तरजामी अविनासी
सूरदास प्रभु आनन्द-रासी। रमा सहित जल ही के बासी॥

अथवा

ब्रज-बासी सब भए बिहाल।
कान्ह-कान्ह कहि-कहि टेरत हैं व्याकुल गोपी-ग्वाल।
अब को बसैं जाइ ब्रज हरि-बिनु, धिक जीवन नर-नारि।
तुम बिनु यह गति भई सबनि की, कहाँ गए बनवारि।
प्रातहि तैं जल-भीतर पैठे, होन लग्यौ जुग जाम।
कमल लिए सूरज प्रभु आवत सब सौं कही बलराम॥५६२॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

वात्सल्यसक्ति के समान सूरदास ने अपनी सख्यासक्ति के अन्तर्गत सभी कुछ कहा है। इसीलिये उनके इन पदों में सखा का त्याग भी है और उसका धृष्ट व्यवहार भी! वास्तव में, सख्य भाव के यही दो लक्षण हैं, जो मित्र की मित्रता को कायम रखते हैं। मित्र का मित्र के लिये त्याग उसकी पवित्रता का द्योतक है और उसका धृष्ट व्यवहार उसकी समानता का परिचायक! इसीलिये सूरदास ने अपनी सख्यासक्ति के अन्तर्गत इन दोनों लक्षणों पर विविध रूप में बार-बार प्रकाश डाला है। सखा-रूप में सूरदास ने उक्त दोनों ही लक्षणों से युक्त स्वयं को भी चित्रित

किया है और अपने इष्टदेव को भी ! इसीलिये सूर के सखा कृष्ण अनेक स्थलों पर बार-बार यही कहते हैं—

वृन्दावन मौकौं अति भावत ।
सुनहु सखा तुम सुबल, श्रीदामा, ब्रज तैं बन गौ-चारन आवत ।
कामधेनु सुरतरु सुख जितने, रमा सहित बैंकुठ भुलावत ।
इहि बृन्दावन, इहि जमुना-तट, ये सुरभी अति सुखद चरावत ।
पुनि-पुनि कहत स्याम श्रीमुख सौं, तुम मेरें मन अतिहिं सुहावत ।
सूरदास सुनि ग्वाल चकृत भए, यह लीला हरि प्रगट दिखावत ।४४६।

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

और सूरदास के सखा कृष्ण का यह कथन केवल कथन ही नहीं है—उनके वह व्यवहार में भी निहित है—

ग्वालनि कर तैं कौर छुड़ावत ।
जूठौ लेत सबनि के मुख कौं, अपनैं मुख लै नावत ।
षटरस के पकवान धरे सब, तिनमैं रुचि नहिं लावत ।
हा-हा करि-करि माँग लेत हैं कहत मोहिं अति भावत ।
यह महिमा येई पै जानत, जातैं आपु बँधावत ।
सूर स्याम सपनैं नहिं दरसत मुनि जन ध्यान लगावत ॥४६८॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

इस प्रकार हम देखते हैं, वात्सल्यासक्ति के समान सूरदास ने सख्यासक्ति को भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में चित्रित किया है। वास्तव में, कृष्ण की गेंद-तड़ी-लीला, जिससे सम्बन्धित कई पद हमने ऊपर दिये हैं, सूरदास की सख्यासक्ति की अभूतपूर्व व्यञ्जना है ! सख्यासक्ति के अन्तर्गत आने वाले सभी भाव उसमें नैसर्गिक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं । संयोग और वियोग—प्रेम के दोनों ही पक्ष उसमें चित्रित हुये हैं। यही कारण है, जो सख्यासक्ति की चरम सीमा उसमें लक्षित होती है।

पीछे हम लिख ही आये हैं, सूरदास की वात्सल्यासक्ति उनकी सख्य भक्ति का प्रारम्भ है, सख्यासक्ति उसका केन्द्र और कांतासक्ति

उसकी पराकाष्ठा ! इसीलिए कृष्ण की कोई भी गोपनीय बात उनके सखाओं के लिए गोपनीय नहीं है। वास्तव में, कृष्ण अपने मन की कोई भी बात अपने मन के साथी-सखाओं से नहीं छिपा पाते हैं। उनके सखाओं को उनका सभी-कुछ विदित है। वह गोपियों के साथ क्रीड़ा भी अपने सखाओं को साथ में लेकर उनके सम्मुख ही करते हैं। और उनके सब सखा भी ऐसे हैं, जो अपने सखा के साथ अपनी मित्रता को भली प्रकार और सत्यता के साथ निभाते हैं। वे अपने मित्र के मित्र हैं—और कुछ वे नहीं जानते। और मित्र की इसी भावना में मित्रता की वास्तविकता, उसकी सफलता, उपादेयता और पवित्रता निहित है।

मगर अपनी कांतासक्ति में उन्होंने अपने मन की सर्वोपरि भावना को सजोया है। अपने प्रियतम के साथ एक-रस—एक-रूप होने के लिए अपनी जिस पवित्र निष्ठा को उन्होंने अपनी वात्सल्यासक्ति और सख्यासक्ति में अपने मन की पूर्ण तल्लीनता के साथ, कदम-कदम कर आगे बढ़ाया, उनकी वही निष्ठा कान्तासक्ति में फलवती हुई और सूरदास अपने प्रभु के रूप लीन हो गए।

उनकी कान्तासक्ति के पदों में उनका यही भाव दीख पड़ता है। उनके प्रभु भी अपने भक्तों को सुख देने वाले हैं। जिस प्रकार भी जो उन्हें भजता है, वह उसी प्रकार उससे मिलते हैं। दानलीला के प्रारम्भिक पदों में सूरदास ने अपने प्रभु के इस स्वभाव का भली-भाँति चित्रण किया है—साथ ही यह भी कहा है, गोपियों के रूप में अगर उन्होंने मन, वचन और कर्म से कामातुर होकर अपने प्रभु को भजा तो उनके प्रभु ने कामी होकर ही उनको उसी प्रकार सुख पहुंचाया और उन्हें अपने रूप में मिला लिया। देखिये—

भक्तनि के सुखदायक स्याम। नारी पुरुष नहीं कछु काम॥
संकट में जिनि जहाँ पुकारयौ। तहाँ प्रगटि तिनकौं उद्धारयौ॥
सुख भीतर जिनि सुमिरन कीन्हौ। तिनकौं दरस तहाँ हरि दीन्हौ॥
दुख सुख मैं जो हरि कौं ध्यावै। तिनकौं नैंकु न हरि बिसरावैं

कामातुर गोपी हरि ध्यायौ। मन-वच-क्रम हरि सौं चित लायौ ॥
षट ऋतु तप कीन्हौ तनु गारी । होहिं हमारे पति गिरधारी ॥
अन्तरजामी जानी सब की । प्रीति पुरातन पाली तब की ॥
बसन हरे गोपिन सुख दीन्हौ। सुख दै सब कौ मन हरि लीन्हौ ॥
जुवतिनि कैं यह ध्यान सदाई । नैंकु न अंतर होहिं कन्हाई ॥
घाट बाट जमुना तट रोकैं । मारग चलत जहाँ तहँ टोकैं ॥
काहू की गागरि धरि फोरैं । काहू सौं हँसि बदन सकोरैं ॥
काहू कौ अंकम भरि भेटैं । काम बिथा तरुनिनि की मेटैं ॥
ब्रह्म कीट आदि के स्वामी । प्रभु हैं निर्लोभी निहिकामी ॥
भाव-वस्य सँगही सँग डोलैं । खेलैं हँसैं तिनहिं सौं बोलैं ॥....
॥ १४६० ॥

—'सूरसागर' दशम स्कध (पहिला खड) का० ना० प्र० सभा ।

उपर्युक्त पंक्तियों में सूरदास की कान्तासक्ति का एक सफल चित्र अङ्कित हुआ है। वास्तव में, अपने प्रियतम के रूप में समाजाने की भावना भक्त की भक्ति की चरम-सीमा हैं। पुष्टिमार्ग के सिद्धाँतों को बतलाते हुए एक स्थान पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कहा है—'भगवान अपने में कर्मणा, मनसा और वाचा आत्मसमर्पणशील जीवों का प्रपंच से उद्धार अपनी दया के बल से कर देते हैं।' और इस सिद्धांत को व्यवहार में लाने की व्यवस्था करते हुए उन्होंने कहा—'श्रद्धालु भक्त को गोपियों को अपना आदर्श मानकर अपना समर्पण-निरत जीवन बिताना चाहिये तथा भगवान की पूजा-अर्चा ही में अपना कालयापन करना चाहिए, उसे अपने जीवन पर तनिक भी ममता नहीं, स्वतन्त्रता नहीं ।'

और महाप्रभु की यहीआज्ञा-वाणी सूरदास के जीवन और उनकी कविता में साकार हो उठी। वात्सल्यासक्ति में उसमें प्राणों का संचार हुआ, सख्यासक्ति में उसने यौवन में पदार्पण किया और कान्तासक्ति में वह पूर्ण यौवनवती खिल-खिलाकर हँस पड़ी। और प्राणाधार कृष्ण उस पर रीझ गए। अपने यौवन में मदमाती थी—

वह ! तो, उसने मान भी किया ; नारी-सुलभ लज्जा के झीने आवरण में दुबकना भी चाहा; मगर उसका मन बार बार उससे यही कहता रहा—पगली आगे बढ़ ! आगे बढ़—और अपने प्रियतम के रूप में मिल कर एकाकार होजा । और वह आगे बढ़ी । लज्जा का आवरण छिन्न-भिन्न हो गया । वह अपने मनमोहन में समा गई। फिर ऐहिक लीला की समाप्ति पर भगवदनुग्रह से वह गोलोक की विपुल शान्ति में जा विराजी ।

इसीलिये एक स्थान पर पीछे हमने लिखा है—अपनी सख्य-भक्ति के अन्तर्गत सूरदास ने अपने इष्टदेव कृष्ण को पहले पुत्र रूप में भजा, फिर सखा के रूप में—और अन्त में गोपी बन कर प्राणाधार के रूप में । और उनके उत्कट प्रेम ने भगवान और भक्त के इस कान्त-कान्ता वाले सम्बन्ध में सुगन्ध उत्पन्न कर दी । तो, इस सुगन्ध का कारण बनीं—उनके चित्त की अनेक वृत्तियाँ, जो स्वाभाविक हैं—इसीलिए हृदयग्राही जान पड़ती हैं । दूसरे शब्दों में उन्हें संयोग की अवस्थाएँ कहकर पुकारा जा सकता है—

(१) रूपाकर्षण—

देखि सखी बन तैं जु बने ब्रज आवत हैं नंद-नन्दन ।
सिखी सिखंड सीस, मुख मुरली, बन्यौ तिलक, उर चन्दन ।
कुटिल अलक मुख, चंचल लोचन, निरखत अति आनन्दन ।
कमल मध्य मनु द्वै खग खंजन बँधे आइ उड़ि फन्दन ।
अरुन अधर-छवि दसन विराजत, जब गावत कल मन्दन ।
मुक्ता मनौ नील-मनि-मय-पुट, धरे भुरकि बर बन्दन ।
गोप वेष गोकुल गो चारत हैं हरि असुर-निकन्दन ।
सूरदास प्रभु सुजस बखानत नेति नेति श्रुति छन्दन ॥ ४७६ ॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा ।

अथवा

खेलत हरि निकसे ब्रज-खोरी ।
कटि कछनी पीताम्बर बाँधे, हाथ लए भौंरा, चक, डोरी ॥

मोर-मुकुट, कुण्डल स्रवननि वर, दसन-दमक दामिनि-छवि छोरी।
गए स्याम रवि-तनया कैं तट, अंग लसति चन्दन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी॥
सङ्ग लरकिनी चलि इत आवति, दिन-थोरी, अति छवि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥ ६७२॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अथवा

साँवरौ मनमोहन माई।
देखि सखी बन तैं ब्रज आवत, सुन्दर नन्द-कुमार कन्हाई॥
मोर पङ्ख सिर मुकुट विराजत, मुख मुरली-धुन सुभग सुहाई।
कुण्डल लोल, कपोलनि की छवि, मधुरी बोलनि बरनि न जाई॥
लोचन ललित, ललाट भृकुटि बिच तकि मृगमद की रेख बनाई।
मनु मरजाद उलंघि अधिक बल उमँगि चली अति सुन्दरताई॥
कुंचित केस सुदेस, कमल पर मनु मधुपनि माला पहिराई।
मंद-मंद मुसुक्यानि, मनौ घन, दामिनी दुरि-दुरि देति दिखाई॥
सोभित सूर निकट नासा के अनुपम अधरनि की अरुनाई।
मनु सुक सुरँग बिलोकि बिंब-फल चाखन कारन चोंच चलाई।६१६।

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(२) परिचय—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, कांकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी॥
काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिँ, खेलति रहतिँ आपनी पौरी।
सुनत रहतिँ स्रवननि नँद-ढोटा करत फिरत माखन-दधि-चोरी।
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैँ खेलन चलौ सङ्ग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥६७३॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(३) मिलनोपाय—

सैननि नागरी समुझाई ।
खरिक आवहु दोहनी ले, यहै मिस छल लाइ ॥
गाय-गनती करन जैहैं, मोहिं लै नँदराइ ।
बोलि वचन प्रमान-कीन्हो, दुहुनि आतुरताई ॥
कनक बरन सुढार सुन्दरि, सकुचि बदन दुराई ॥
स्याम प्यारी-नैन राँचे, अति बिसाल चलाइ ॥
गुप्त प्रीति न प्रगट कीन्ही, हृदय दुहुनि छिपाई ।
सूर प्रभु के बचन सुनि-सुनि, रही कुँवरि लजाई ॥ ६७६ ॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

अथवा

सिव सौं विनय करतिँ कुमारी ।
जोरि कर, मुख करतिँ अस्तुति, बड़े प्रभु त्रिपुरारि ॥
सीत भीत न करतिँ, सुन्दरि, कृस भँई सुकुमारि ।
छहौं रितु तप करतिँ नीकैं, गेह-नेह बिसारि ॥
ध्यान धरि, कर जोरि, लोचन मूँदि, इक-इक जाम ।
विनय अंचल छोरि रवि सौं करतिँ हैं सब बाम ॥
हमहिँ होहु दयाल दिन-मनि, तुम विदित संसार ।
काम अति तनु दहत दीजै, सूर हरि भरतार ॥ ७६७ ॥
—'सूरसागर'-दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(४) मिलनातुरता—

नागरि मन गई अरुझाई ।
अति विरह तनु भई व्याकुल, घर न नैंकु सुहाइ ॥
स्याम सुन्दर मदन मोहन, मोहिनी सी लाई ।
चित्त चञ्चल कुँवरि राधा, खान-पान भुलाई ॥
कबहुँ विहँसति, कबहुँ बिलपति, सकुचि रहति लजाइ ।
मातु-पितु को त्रास मानति, मन बिना भई बाइ ॥

जननि सौं दोहनी माँगति, वेगि दै री माई।
सूर प्रभु कौं खरिक मिलिहौं, गए मोहिं बुलाइ॥ ६७८॥
'—सूरसागर'–दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(५) प्रथम-मिलन—

नन्द बवा की बात सुनौ हरि।
मोहिं छाँड़ि जौ कहुँ जाहुगे, ल्याउँगी तुमकौं धरि॥
भली भई तुम्हैं सौंपि गए मोहिं, जान न दैहौं तुमकौं
बाँह तुम्हारी नैंकु न छाँड़ौं, महर खीझिहैं हमकौं॥
मेरी वाहँ छाँड़ि दै राधा, करत उपरफट बातैं।
सूर स्याम नागर, नागरि सौं, करत प्रेम की घातैं॥६८१॥
—'सूरसागर'–दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अथवा

नीवी ललित गही जदुराई।
जवहिं सरोज धरयौ श्रीफल पर, तव जसुमति गई आइ॥
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन मैं वुधि उपजाइ।
देखौ ढीठि देति नहिं माता, राख्यौ गेंद चुराई॥
तव वृपभानु-सुता हँसि वोली, हम पै नाहिं कन्हाई।
काहे कौं झकझोरत नोखे, चलहु न देउँ वताइ॥
देखि विनोद वाल सुत कौ तव, महरि चली मुसुकाइ।
सूरदास के प्रभु की लीला, को जानै इहिं भाइ॥६८२॥
'—सूरसागर'–दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अथवा

रवि सौं विनय करतिं कर जोरे।
प्रभु अन्तरजामी, यह जानी, हम कारन जल खोरे॥
प्रगट भए प्रभु जलही भीतर, देखि सवनि कौ प्रेम।
मींजत पीठि सवनि के पाछैं, पूरन कीन्हौ नेम॥

फिरि देखैं तौ कुँवर कन्हाई, मीजत रुचि सौं पीठि।
सूर निरखि सकुचीं ब्रज-जुवतीं, परी स्याम-तन दीठि॥ ७६८॥
—'सूरसागर'–दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(६) सुख-विलास—

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम-भुज ऊपर, स्याम-भुजा अपने उर धरिया॥
क्रीड़ा करत तमाल-तरुन-तर स्यामा स्याम उमँगि रस भरिया।
यौं लपटाइ रहे उर-उर ज्यौं, मरकत मनि कँचन मैं जरिया॥
उपमा काहि देउँ, को लायक, मन्मथ कोटि वारने करिया।
सूरदास बलि-बलि जोरी पर, नँद-कुँवर वृषभानु-कुँवरिया।६८८॥
—'सूरसागर'–दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(७) चतुराई—

पीत उढ़नियाँ कहाँ बिसारी।
यह तौ लाल ढिगनि की औरै, है काहू की सारी॥
हौं गोधन लै गयौ जमुन-तट, तहाँ हुतीं पनिहारी।
भीर भई सुरभी सब बिडरीं, मुरली भली सम्हारी॥
हौं लै भज्यौ और काहू की, सो लै गई हमारी।
सूरदास प्रभु भली बनाई, बलि जसुमति महतारी॥६६३॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अथवा

जननी कहति कहा भयौ प्यारी।
अबहीं खरिक गई तू नीकैं, आवत हीं भई कौन बिथारी॥
एक बिटिनियाँ सँग मेरे ही, कारैं खाई ताहि तहाँ री।
मो देखत वह परी धरनि गिरि, मैं डरपी अपनैं जिय भारी॥
स्याम बरन इक ढोटा आयौ, यह नहिं जानति रहत कहाँ री।
कहत सुन्यौ नँद कौ यह बारौ, कछु पढ़ि कै तुरतहिं उहिं झारी॥

मेरौ मन भरि गयौ त्रास तैं, अब नीकौ मोहिं लागत ना री।
सूरदास अति चतुर राधिका, यह कहि समुझाई महतारी ॥६६७॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अथवा

प्रेम विवस सब ग्वालि भँई।
उरहन देन चली जसुमति कौं, मनमोहन के रूप रँई ॥
पुलक अङ्ग अँगिया उर दरकी, हार तोरि कर आपु लँई।
अँचल चीरि, घात उर नख करि, यह मिसकरि नँद-सदन गँई ॥
जसुमति माइ कहा सुत सिखयौ, हमकौ जैसे हाल किए।
चोली फारि हार गहि तोरे, देखौ उर नख-घात दिए॥
अंचल चीरि अभूषन तोरे, घेरि धरत उठि भागि गए।
सूर महरि मन कहति स्याम धौं,ऐसे लायक कवहिं भए ।७७१॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

(८) प्रेम-हठ—

......यह सुनि हँसे दयाल मुरारी। मेरौ कह्यौ करौ सुकुमारी॥
जल तैं निकसि सवै तट आवहु। तवहिं भलैं अँबर तुम पावहुँ॥
भुजा पसारि दीन ह्वै भाषहु। दोउ कर जोरि-जोरि तुम राखहु॥
सुनहु स्याम इक वात हमारी। नगन कहूँ देखियै न नारी॥
यह मति आपु कहाँ धौं पाई। आजु सुनी यह वात नवाई॥
ऐसी साध मनहिं मैं राखहु। यह वानी मुख तैं जनि भाषहु॥
हम तरुनी तुम तरुन कन्हाई। विना वसन क्यौं देहिं दिखाई॥
पुरुष जाति तुम यह कह जानौ। हा हा यह मुख मैं जनि आनौ॥
तौ तुम वैठि रहौ जलही सव। वसन अभूषन नहिं चाहतिं अव॥
तवहिं देहुँ जल वाहर आवहु। वाँह उठाइ अँग दिखरावहु॥...
॥८००॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(९) प्रेमाकर्षण—

चली बन वेनु सुनत जब धाइ।
मातु-पिता-बाँधव अति त्रासत, जाति कहाँ अकुलाइ॥
सकुच नहीं, संका कछु नाहीं, रैनि कहाँ तुम जाति।
जननी कहति दई की घाली, काहे कौं इतराति॥
मानति नहीं और रिस पावति, निकसी नातौ तोरि।
जैसैं जल-प्रवाह भादौं कौ, सो को सकै बहोरि॥
ज्यौं केंचुरी भुअङ्गम त्यागत, मात-पिता यौं त्यागे।
सूर स्याम कैं हाथ बिकानी, अलि अंबुज अनुरागे॥१००३॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(१०) प्रेम-परीक्षा—

(प्रश्न)

मातु-पिता तुम्हरे धौं नाहीं।
बारंबार कमल-दल-लोचन, यह कहि-कहि पछिताहीं॥
उनकैं लाज नहीं, बन तुमकौं आवन दीन्ही राति।
सब सुंदरी, सबै नवजोबन, निठुर अहिर की जाति॥
की तुम कहि आईं, की ऐसेहिँ कीन्ही कैसी रीति।
सूर तुमहिँ यह नहीं बूझियै, करी बड़ी बिपरीति॥१०१३॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(उत्तर)

तुम पावत हम घोष न जाहिँ।
कहा जाइ लैहैं हम ब्रज, यह दरसन त्रिभुवन नाहिँ॥
तुमहूँ तैं ब्रज हितू न कोऊ, कोटि कहौ नहिँ मानैं।
काके पिता, मातु हैं काकी, काहूँ हम नहिँ जानैं॥
काके पति, सुत-मोह कौन कौ, घरही कहा पठावत।
कैसौ धर्म, पाप है कैसौ, आस निरास करावत॥

हम जानैं केवल तुमही कौं, और वृथा संसार।
सूर स्याम निठुराई तजियै, तजियै वचन-विकार ॥१०२१॥
—'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(११) रस-केलि-विस्तार—

(१)

रस बस स्याम कीन्ही ग्वारि।
अधर-रस अँचवत परसपर, संग सब व्रजनारि॥
काम-आतुर भजीं बाला, सबनि पुरई आस।
एक-इक व्रजनारि, इक-इक आपु करयौ प्रकास॥
कबहुँ नृत्यत कबहुँ गावत, कबहुँ कोक-बिलास।
सूर के प्रभु रास-नायक, करत सुख-दुख नास ॥१०६२॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(२)

प्यारी स्याम लई उर लाइ।
उरज उर सौं परस कौ सुख, बरनि कापै जाइ॥
कनक-छवि तन मलय-लेपन निरखि भामिनि-अङ्ग।
नासिका सुभ बास लै-लै, पुलक स्याम-अनंग॥
देति चुंबन, लेति सुख कौं, मानि पूरन भाग।
सूर-प्रभु बस किये नागरि, बदति धन्य सुहाग ॥१०८१॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(३)

जल क्रीड़ा-सुख अति उपजायौ।
राग रँग मन तैं नहिं भूलत, वहै भेद मन आयौ॥
जुवती कर-कर जोरि मंडली, स्याम नागरी बीच।
चंदन-अंग-कुंकमा छूटत, जल मिलि तट भई कीच॥

जो सुख स्याम करत जुवतिनि सँग, सो सुख तिहुँ पुर नाहीं ।
सूर स्याम देखत नारिनि कौं, रीझि-रीझि लपटाहीं ॥११६३॥

—'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(४)

नवल नागरि, नवल नागर किसोर मिलि, कुंज कोमल-कमल-
दलनि सज्या रची ।
गौर साँवल अंग रुचिर तापर मिले, सरस मनि मृदुल कंचन सु-
आभा खची ॥
सुँदर नीवी वंध रहति पिय पानि गहि पीय के भुजनमैं कलह
मोहन मची ।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत, हुँकरि, रोष, करि गर्व, दृग
भंगि, भामिनि लची ॥
कोक-कोटिक रभस, रसिक हरि सूरज, विविध कल माधुरी
किमपि नाहिँन वची ।
प्रान-मन-रसिक, ललितादि, लोचन-चपक, पिवति मकरंद, सुख-
रासि - अंतर-सची ॥११६१॥

—'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(५)

स्यामा स्याम करत विहार ।
कुंज गृह रचि कुसुम सज्जा, छवि वरनि को पार ॥
सुरत-सुख करि अंग आलस, सकुचि वसन सम्हारि ।
परसपर भुज कंठ दीन्हे, वैठे हैं वर नारि ॥
पीत कंचन-वरन भामिनि, स्याम घन-अनुहारि ।
सूर घन अरु दामिनी मिलि, प्रगट सुख विस्तारि ॥१६७६॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

सूरदास ने मधुर-भाव भक्ति-रस का चित्रण बहुत ही विस्तार के साथ किया है। इस मधुर-भाव का वर्णन 'सूरसागर' में तो सर्वाधिक है ही–साथ ही 'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी' भी उनके इसी प्रकार के वर्णन से ओत-प्रोत हैं। ऊपर हमने सूरदास की कान्तासक्ति के अन्तर्गत उनके उत्कट प्रेम के संयोग-पक्ष का चित्रण करने का प्रयत्न किया है—और अपने इस वर्णन में हम केवल उनके इष्टदेव की दानलीला तक के ही पद उद्धृत कर पाये हैं—इस ओर की उनकी अन्य लीलाओं के पद, विस्तार-भय के कारण हमने छोड़ दिये हैं। वास्तव में, 'सूरसागर' का दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध अधिकाँश में भगवान कृष्ण की इन्हीं लीलाओं से भरा है—और भगवान कृष्ण को यही लीलाएँ गोपी-रूप सूरदास की कान्तासक्ति की सर्वस्व हैं।

यह हम पीछे ही लिख आये हैं, प्रेम के दो पक्ष हैं–संयोग और वियोग! संयोग में मिलन का सुख है; मगर वियोग में फिर मिलने की वांछा का रुदन! इसीलिये वियोग को मिलन और पुनर्मिलन के बीच का सेतु कह सकते हैं। वास्तव में, मिलन मानसिक अनुभूतियों के सुख का ही प्राप्त-कर्ता है; मगर पुनर्मिलन सर्वदा-सर्वदा के लिये अपने प्यारे में लीन हो जाने का नाम है। मिलन को प्रथम मिलन कहा जा सकता है; मगर पुनर्मिलन को चिर-मिलन! क्योंकि पुनर्मिलन के समय भगवान भक्त को चिर-मिलन का सुख प्रदान कर परमानन्द में लीन कर देता है। और आचार्य और मनीषी इसी चिर-मिलन के सुख को भगवदनुग्रह कहकर सम्बोधित करते है।

तो, वियोग को पुनर्मिलन या चिर-मिलन का तप कहना अधिक तर्क-संगत जान पड़ता है—और क्योंकि प्रेम के इस पक्ष का उदय प्रथम मिलन के पश्चात होता है—इसीलिए इसमें स्वयँ को मिटाकर अपने प्यारे के रूप में सर्वदा के लिए समाजाने की भावना स्वतः ही जाग उठती है। फिर, भक्त की आत्मा मानसिक अनुभूतियों के

सुख से तृप्त नहीं हो पाती—क्योंकि वह ऐहिक है—फिर तो वह पारलौकिक सुख की ही वांछा करती हुई परम विरहासक्ति के द्वारा उसे प्राप्त करती है और जीवन-मरण के वंधन से मुक्त होकर परमात्मा में लीन हो जाती है। यही कारण है जो प्रेम के वियोग पक्ष की अन्तिम अवस्था मरण है—अर्थात् इस नश्वर देह के प्रति आत्मा के मोह का त्याग!

वियोग-पक्ष की अन्य दस अवस्थायें निम्नलिखित हैं—

(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता, (१०) मूर्छा।

और सूरदास ने अपनी इस विरहावस्था का चित्रण भी शास्त्रोक्त और स्वाभाविक रूप से किया है, देखिये—

(१) अभिलाषा—

कब देखौं इहिँ भाँति कन्हाई।
मोरनि के चँदवा माथे पर, काँध कामरी लकुट सुहाई॥
वासर के बीतैं सुरभिन सँग, आवत एक महाछवि पाई।
कान अँगुरिया घालि निकट पुर, मोहन राग अहीरी गाई।
क्यौंहुँन रहत प्रान दरसन विनु; अव कित जतन करैरी माई।
सूरदास स्वामी नाहिँ आए, बदि जु गए अवध्यौऽव भराई॥३२१७॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(२) चिन्ता—

मधुकर ये नैना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमल नैन के, प्रेम मगन भए भारे॥
तादिन तैं नींदौ पुनि नासी, चौंकि परत अधिकारे।
सुपन तुरी जागत पुनि वेई, वसत जु हृदय हमारे॥

यह निरगुन लै ताहि बतावहु, जानै याकी सारे।
सूरदास गोपाल छाँड़ि को, चूसै टेँटा खारे॥ ३५७६॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(३) स्मरण—

इक दिन मुरली स्याम बजाई।
मोहे सुर नर और सकल मुनि, उनै बदरिया आई॥
जमुना नीर प्रवाह थकित भयौ, चलै नहीं जु चलाई।
गाइनि के मुख दाँतनि तृन रहे, बच्छ न छीर पिवाई॥
द्रुम बेली अनुराग पुलकि तनु, ससि थकि निसि न घटाई।
सूरदास-प्रभु मिलिबैं कारन, चलीं सखी-सुधि पाई॥३३४७॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(४) गुण-कथन—

ते गुन बिसरत नाहीं उरतैं।
जे ब्रजनाथ किए सुनि सजनी, सोचि कहति हौं धुर तैं॥
मेघ कोपि ब्रज बरषन आयौ, त्रास भयौ पति-सुर तैं।
बिह्वल बिकल जानि नँदनंदन, करज धरयौ गिरि तुरतैं॥
एक समै बन माँझ मनोहर, जाम रैन रज जुर तैं।
पत्रभंग सुनि संक स्याम घन, सैन दई कर दुर तैं॥
दैत्य महाबल बहुत पठाए, कंस बली मधुपुर तैं।
सूरदास-प्रभु सबै बधे रन, कछु नहिं सरयौ असुरतैं॥३२०४॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(५) उद्वेग—

तुम्हारी प्रीति, किधौं तरवारि।
दृष्टि धार धरि हती जु पहिलैं, घायल सब ब्रजनारि॥

गिरीं सुमार खेत वृन्दावन, रन मानी नहिं हारि।
विह्वल बिकल सँभारति छिनु-छिनु, वदन सुधा-निधि वारि॥
अब यह, कृपा जोग लिखि पठयौ, मनसिज करी गुहारि।
कछु इक सेप बच्यौ सूरज प्रभु, सोउ जनि डारहु मारि॥३६६२॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(६) प्रलाप—

नैन सलोने स्याम, बहुरि कब आवहिँगे।
वैं जौ देखत राते राते, फूलनि फूली डार।
हरि बिनु फूलझरी सी लागत, झरि झरि परत अँगार॥
फूल बिनन नहिँ जाँउ सखी री, हरि बिनु कैसे फूल।
सुनि री सखि मोहिँ राम दुहाई - लागत फूल त्रिसूल॥
जब मैं पनघट जाउँ सखी री, वा जमुना कैँ तीर।
भरि-भरि जमुना उमड़ि चलति है. इन नैननि कैँ नीर॥
इन नैननि कैँ नीर सखी री, सेज भई घरनाउ।
चाहति हौँ ताही पै चढ़ि कैं, हरि जू कैँ ढिग जाउँ॥
लाल पियारे प्रान हमारे, रहे अधर पर आइ।
सूरदास-प्रभु कुंज-बिहारी, मिलत नहीँ क्यौँ धाइ॥३२७५॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(७) उन्माद—

माधौ जू सुनियै ब्रज व्यवहार।
मेरौ कह्यौ पवन कौ भुस भयौ, गावत नन्दकुमार॥
एक ग्वाल गोसुत ह्वै रेँगत, एक लकुट कर लेत।
एक मण्डली करि बैठारत, छाक बाँटि इक देत॥
एक ग्वाल नटवर वपु लीला, एक कर्म गुन गावत।
बहुत भाँति करि मैँ समुझायौ, एक न उर मैँ आवत॥

निसि-वासर येही ढँगसव व्रज, दिन दिन नवतन प्रीति।
सूर सकल फीकौ लागत है, देखत वह रस रीति ॥ ४१४५ ॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(८) व्याधि—

ऊधौ तिहारे पा लागति हौं, बहुरिहुँ इहिँ व्रज करवी भाँवरी ।
निसि न नींद भोजन नहिँ भावै, चितवत मग भइ दृष्टि झाँवरी ॥
वहै वृन्दावन वहै कुंज-घन, वहै जमुना वहै सुभग साँवरी ।
एक स्याम बिनु कछू न भावै, रटति फिरतिँ ज्यौँ वकति वावरी ॥
चलि न सकति मग डुलत धरत-पग, आवति वैठत उठत ताँवरी ।
सूरदास प्रभु आनि मिलावहु, जग मैँ कीरति होइ रावरी ॥४०८०॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खंड) का० ना० प्र० सभा ।

(९) जड़ता—

फिरि फिरि कहा बनावत बात ।
प्रात काल उठि खेलत ऊधौ घर-घर माखन खात ॥
जिनकी बात कहत तुम हमसौँ, सो है हमसौँ दूरि ।
ह्याँ हैं निकट जसोदा-नंदन, प्रान सजीवन मूरि ॥
बालक संग लिऐँ दधि चोरत, खात खवावत डोलत ।
सूर सीस नीचौ कत नावत, अब काहैँ नहिँ बोलत ॥३६८८॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(१०) मूर्छा—

मेरे मन इतनी सूल रही ।
वे वतियाँ छतियाँ लिखि राखीँ, जे नँदलाल कही ॥
एक द्यौस मेरैँ गृह आए, हौँ ही महत दही ।
रति माँगत मैँ मान कियौ सखि, सो हरि गुसा गही ॥

सोचति अति पछिताति राधिका, मुरछित धरनि ढही ।
सूरदास-प्रभु के बिछुरे तैं, बिथा न जाति सही ॥३३६५॥
—'सूरसागर' दशम स्कंध (द्वितीय खंड) का० ना० प्र० सभा ।

(११) मरण—

ऊधौ कही सु फेरि न कहिऐ ।
जौ तुम हमैं जिवायौ चाहत, अनबोले ह्वै रहिऐ ॥
प्रान हमारे घात होत हैं, तुम्हरे भाऐं हाँसी ।
या जीवन तैं मरन भलौ है, करवत लैहैं कासी ॥
पूरब प्रीति सँभारि हमारी, तुमकौं कहन पठायौ ।
हम तौ जरि बरि भस्म भँई तुम, आनि मसान जगायौ ॥
कै हरि हमकौं आनि मिलावहु, कै लै चलियै साथैं ।
सूर स्याम बिनु प्रान तजति हैं, दोष तुम्हारे माथैं ॥३६०७॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

जैसा कि पीछे हम दिखला आये हैं, श्री रामकुमार वर्मा ने गोपिका-विरह के पदों को कान्तासक्ति के अन्तर्गत रक्खा है; मगर हमारी सम्मति में प्रेम का वियोग-पक्ष सर्वदा आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति का ही अङ्ग है । यों सांसारिक रूप में साधारण दृष्टि से देखने पर वर्मा जी का विचार सही हो सकता है; लेकिन भक्ति-मार्ग की दृष्टि से उनका यह विचार तर्क-संगत नहीं जान पड़ता । प्रेम का केवल संयोग-पक्ष ही कान्तासक्ति के अन्तर्गत आ सकता है, उसका वियोग-पक्ष नहीं । यह सत्य है, इसकी आधार-शिला संयोग ही है; मगर भक्ति-मार्ग में संयोग प्रथम-मिलन का नाम है और वियोग पुनर्मिलन की तपस्या ! जिसका अर्थ है, उसका सीधा सम्बन्ध संयोग से नहीं, बल्कि पुनर्मिलन से है । और इस मिलन के पश्चात् भक्त और भगवान् का फिर बिछोह नहीं होता । और न फिर मिलन ही !—क्योंकि आत्मा इस प्रकार भगवदनुग्रह को प्राप्तकर सर्वदा-सर्वदा के लिये निराकार भगवान् में लीन हो जाती है ।

हो सकता है, वर्मा जी ने मनुष्य के व्यवहारिक जीवन में प्रतिदिन घटित होने वाले पति-पत्नी अथवा प्रिय और प्रेमी के बीच के व्यापार को दृष्टि में रखकर ही अपना उपर्युक्त मत प्रगट किया हो; मगर वह ऐहिक अथवा मानसिक और शारीरिक सम्बन्धों के आधार पर टिका है और भक्ति पद्धति में वह आत्मिक है—इस लिए भक्त के वियोग को सांसारिक प्रेमी की समानता में नहीं रखा जा सकता। पति-पत्नी और प्रिय और प्रेमी अपने छोटे-से जीवन में भी अनेकों वार बिछुड़ सकते हैं और अनेकों ही वार मिल सकते हैं; लेकिन भक्त पुनर्मिलन के पश्चात् अपने भगवान से न बिछुड़ता ही है और न फिर मिलने की उसे आवश्यकता ही होती है--क्योंकि वह प्रभु सगुण है और निर्गुण भी। साकार है और निराकार भी-और पुनर्मिलन निराकार भगवान के साथ भक्त की निराकार आत्मा के मिलन का नाम है। वह प्रभु अजर-अमर और अविनाशी है—इसीलिए भक्त की आत्मा भी उसके ऐसे रूप में समाकर अजर-अमर और अविनाशी बन जाती है। फिर बिछोह कैसा और मिलन कैसा? फिर तो वह भी बन्धन-मुक्त, अजर-अमर और अविनाशी ही है।

इसीलिए सूरदास ने प्रभु के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों की उपासना की है, जो शास्त्रोक्त है। नीचे लिखे पद में उनका यही सिद्धान्त भाव चरितार्थ होता है, देखिये—

अविगत-गति कछु कहत न आवै

ज्यौं गूँगैं मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै॥
रूप रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम बिचारहिँ तातैं सूर सगुन-पद गावै॥ २॥

—'सूरसागर' प्रथम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

४

सूरदास के दार्शनिक विचार

भारतीय विचार-धारा में गुरू के महत्व को उपनिषद्-काल से स्वीकार किया गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् के अन्तिम श्लोक में 'यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ' कहकर गुरू और ईश्वर में समानता की स्थापना की गई है। इसी बात को कबीर ने भी अपने शब्दों में दोहराया है—'गुरु गोविन्द दोउ खड़े, काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दीयौ बताय।' इस सम्बन्ध में सूरदास के भी यही विचार ज्ञात होते हैं। उन्होंने अनेक पदों में गुरु की महिमा के सम्बन्ध में अपने इसी भाव को व्यक्त किया है। जैसे—

> कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
> श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला-भेद बतायो॥ ११०२॥
>
> —'सूरसारावली'

तथा

> अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ।
> सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ।·······॥१३॥
>
> —'सूरसागर' चतुर्थ स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

तथा

अपनी ऐहिक लीला की समाप्ति के समय चतुर्भुजदासजी के

कहने पर—'सूरदास जी ने बहुत भगवद्‌जस वर्णन कियौ परि आचार्य जी महाप्रभून कौ वर्णन नहीं कियौ।' उन्होंने कहा—'मैं तो सब श्री आचार्य जी महाप्रभून को ही जस वर्णन कियौ है। कछू न्यारौ देखूँ तो न्यारौ करूँ।' और उन्होंने गाया—

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ।
श्री वल्लभ नखचंद छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरौ।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरौ।
सूर कहा कहै द्विविध आँधरौ बिना मोल को चेरौ॥

—'सूर-सौरभ' (द्वितीय भाग)

वास्तव में, सूरदास ने अपने इन शब्दों में एक ओर अपने गुरू की महिमा का वर्णन किया है तथा दूसरी ओर वास्तविकता अथवा सत्य का उद्‌घाटन! उनकी दास्य भक्ति के पदों, जो उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पूर्व रचे, को देखने पर यह अन्दाज सहज ही में लगाया जा सकता है कि सूरदास का शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान नहीं के बराबर था। उस समय वह केवल एक उच्चकोटि के भक्त और कवि ही थे—और अगर महाप्रभु के चरणों में बैठने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त न हुआ होता तो सूरदास अपनी विनय भक्ति के पदों के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध सामग्री का सृजन कर ही न पाते।

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में लिखा है—भागवत और सुबोधिनी का ज्ञान सूरदास को महाप्रभु ने कराया। नेत्र-विहीन होने के कारण सूरदास के लिए स्वयं कुछ भी पढ़ लेना असम्भव था—इसलिए वार्ता के इस कथन में सन्देह करने के लिए कोई भी कारण नहीं जान पड़ता—तो, इस सम्बन्ध में यह सत्य विदित होता है कि सूरदास ने कृष्ण-लीला सम्बन्धी जो भी कुछ लिखा, वह सब उन्हें महाप्रभु से ही प्राप्त हुआ। महाप्रभु दर्शन-शास्त्र के प्रकांड पण्डित

थे—यही कारण है, जो सूरदास की कविता में उच्चकोटि के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी हुआ दीख पड़ता है।

यह सत्य है, दर्शन की मीमांसा करना उनका ध्येय नहीं था—और न वह इसके लिए उपयुक्त पात्र ही थे। सूरदास तो भक्त थे—इसलिए उनका समूचा साहित्य भक्ति-भावना से ही ओत-प्रोत है; मगर यत्र-तत्र उसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का योग भी हो गया है। पुष्टि सम्प्रदाय की बैठकें नियमित रूप से हुआ करती थीं—और उसकी प्रत्येक बैठक में धार्मिक और दार्शनिक चर्चाएँ तथा महाप्रभु के प्रवचन होते थे। जान पड़ता है, सूरदास को दार्शनिक ज्ञान महाप्रभु के इन्हीं प्रवचनों की सहायता से हुआ—और यह भी सम्भव है, भागवत के प्रकरणों की व्याख्या करते समय भी महाप्रभु ने अपने दार्शनिक सिद्धाँतों की विवेचना की हो—क्योंकि भागवत भक्ति प्रधान ग्रंथ होने के साथ-साथ एकउच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ भी है। इसलिये इस सम्बन्ध में हमें दोनों ही कारण सम्भव जान पड़ते हैं—और इसका अर्थ है, कृष्ण-लीला सम्बन्धी ज्ञान के साथ ही साथ सूरदास को दर्शन सम्बन्धी ज्ञान भी महाप्रभु वल्लभाचार्य से ही प्राप्त हुआ।

यही कारण है जो सूरदास ने अपने अनेक पदों में गुरु-महिमा वर्णन के पुरातन सिद्धान्त की पूर्ति कर हमारे उपर्युक्त कथन के अनुसार गुरू के इस आभार को स्वीकार किया है।

मगर उनकी दर्शन-तत्त्व-मीमांसा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने गुरू महाप्रभु वल्लभाचार्य की दर्शन-वाणी को सुना, उस पर मनन किया और चिन्तन के उपरान्त ही अपनी कविता-माला में उसे पिरोया। इसलिए बीज-रूप में ये दार्शनिक सिद्धान्त महाप्रभु के हैं, मगर इनके स्पष्टीकरण में उन पर सूरदास के चिन्तन की मौलिकता अपना रूप सँवारे बैठी है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—सूर-साहित्य में जो भी दार्शनिक सिद्धान्त उपलब्ध हैं, वे सिद्धान्त-रूप में महाप्रभु के हैं; लेकिन

उनकी व्याख्या पर सूरदास की छाप लगी है। इसीलिये हमने इन्हें सूरदास के दार्शनिक विचार कहकर पुकारा है, नकि उनके दार्शनिक सिद्धान्त—जैसाकि आज के विद्वान् आम तौर से उन्हें सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्त कहने लगे हैं।

इसलिये सूरदास के दार्शनिक विचारों को समझने के लिए महाप्रभु वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझ लेना परम् आवश्यक प्रतीत होता है—और संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

ब्रह्म—

महाप्रभु वल्लभाचार्य ब्रह्म को साकार, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वकर्तृ और सच्चिदानन्द मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। ब्रह्म शुद्ध है। वह गुणातीत होने पर भी जगत् का कर्त्ता है। उसकी शक्ति अचिन्त्य और अपार है। वह सब-कुछ हो—सकता है। वही जगत् का निमित्त और उपादान-कारण है। वह कर्त्ता भी है और भोक्ता भी! मगर वह कर्त्ता होने पर भी निर्विकार है। उपादान-कारण होने पर भी वह संसार-धर्म से परे है। और श्रीकृष्ण ही ऐसे वह अद्वैत् निर्गुण ब्रह्म हैं।

जगत—

महाप्रभु के मत में जगत् सत् है- क्योंकि ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है। इस प्रकार कार्य और कारण अथवा ब्रह्म और जगत् अभिन्न हैं। और जब कारण सत् है तो कारण से अभिन्न कार्य अथवा जगत् भी सत् है। इसलिये महाप्रभु जगत् को ब्रह्मात्मक मानते हैं—क्योंकि खेल के लिए अपनी इच्छा से ही ब्रह्म जगत् के रूप में परिणित हुआ है। वह मायिक नहीं और न ब्रह्म से भिन्न ही है। यही कारण है जो उसकी भी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। मगर उसका आविर्भाव और तिरोभाव वह मानते हैं। और इस सम्बन्ध में आगे चलकर वह कहते हैं—जब

थे—यही कारण है, जो सूरदास की कविता में उच्चकोटि के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी हुआ दीख पड़ता है।

यह सत्य है, दर्शन की मीमांसा करना उनका ध्येय नहीं था—और न वह इसके लिए उपयुक्त पात्र ही थे। सूरदास तो भक्त थे—इसलिए उनका समूचा साहित्य भक्ति-भावना से ही ओत-प्रोत है; मगर यत्र-तत्र उसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का योग भी हो गया है। पुष्टि सम्प्रदाय की बैठकें नियमित रूप से हुआ करती थीं—और उसकी प्रत्येक बैठक में धार्मिक और दार्शनिक चर्चाएँ तथा महाप्रभु के प्रवचन होते थे। जान पड़ता है, सूरदास को दार्शनिक ज्ञान महाप्रभु के इन्हीं प्रवचनों की सहायता से हुआ—और यह भी सम्भव है, भागवत के प्रकरणों की व्याख्या करते समय भी महाप्रभु ने अपने दार्शनिक सिद्धाँतों की विवेचना की हो—क्योंकि भागवत भक्ति प्रधान ग्रंथ होने के साथ-साथ एकउच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ भी है। इसलिये इस सम्बन्ध में हमें दोनों ही कारण सम्भव जान पड़ते हैं—और इसका अर्थ है, कृष्ण-लीला सम्बन्धी ज्ञान के साथ ही साथ सूरदास को दर्शन सम्बन्धी ज्ञान भी महाप्रभु वल्लभाचार्य से ही प्राप्त हुआ।

यही कारण है जो सूरदास ने अपने अनेक पदों में गुरु-महिमा वर्णन के पुरातन सिद्धान्त की पूर्ति कर हमारे उपर्युक्त कथन के अनुसार गुरू के इस आभार को स्वीकार किया है।

मगर उनकी दर्शन-तत्त्व-मीमांसा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने गुरू महाप्रभु वल्लभाचार्य की दर्शन-वाणी को सुना, उस पर मनन किया और चिन्तन के उपरान्त ही अपनी कविता-माला में उसे पिरोया। इसलिए बीज-रूप में ये दार्शनिक सिद्धान्त महाप्रभु के हैं, मगर इनके स्पष्टीकरण में उन पर सूरदास के चिन्तन की मौलिकता अपना रूप सँवारे बैठी है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—सूर-साहित्य में जो भी दार्शनिक सिद्धान्त उपलब्ध हैं; वे सिद्धान्त-रूप में महाप्रभु के हैं; लेकिन

उनकी व्याख्या पर सूरदास की छाप लगी है। इसीलिये हमने इन्हें सूरदास के दार्शनिक विचार कहकर पुकारा है, नकि उनके दार्शनिक सिद्धान्त—जैसाकि आज के विद्वान् आम तौर से उन्हें सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्त कहने लगे हैं।

इसलिये सूरदास के दार्शनिक विचारों को समझने के लिए महाप्रभु वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझ लेना परम् आवश्यक प्रतीत होता है—और संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

ब्रह्म—

महाप्रभु वल्लभाचार्य ब्रह्म को साकार, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वकर्तृ और सच्चिदानन्द मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। ब्रह्म शुद्ध है। वह गुणातीत होने पर भी जगत् का कर्त्ता है। उसकी शक्ति अचिन्त्य और अपार है। वह सब-कुछ हो—सकता है। वही जगत् का निमित्त और उपादान-कारण है। वह कर्त्ता भी है और भोक्ता भी! मगर वह कर्त्ता होने पर भी निर्विकार है। उपादान-कारण होने पर भी वह संसार-धर्म से परे है। और श्रीकृष्ण ही ऐसे वह अद्वैत् निर्गुण ब्रह्म हैं।

जगत—

महाप्रभु के मत में जगत् सत् है- क्योंकि ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है। इस प्रकार कार्य और कारण अथवा ब्रह्म और जगत् अभिन्न हैं। और जब कारण सत् है तो कारण से अभिन्न कार्य अथवा जगत् भी सत् है। इसलिये महाप्रभु जगत् को ब्रह्मात्मक मानते हैं—क्योंकि खेल के लिए अपनी इच्छा से ही ब्रह्म जगत् के रूप में परिणित हुआ है। वह मायिक नहीं और न ब्रह्म से भिन्न ही है। यही कारण है जो उसकी भी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। मगर उसका आविर्भाव और तिरोभाव वह मानते हैं। और इस सम्बन्ध में आगे चलकर वह कहते हैं—जब

जगत् का आविर्भाव होता है तो कार्य रूप से और जब उसका तिरोभाव होता है तो वह कारण रूप से स्थित रहता है—इसीलिये वह सत्य है। इस प्रकार वास्तव में जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव ब्रह्म की इच्छा से ही होता है। अपनी क्रीड़ा के लिये ही ब्रह्म अपनी इच्छा से जीव और जगत् की सृष्टि करता है—क्योंकि अकेले क्रीड़ा सम्भव नहीं !

जीव—

वल्लभाचार्य के मतानुसार जीव ब्रह्म का ही अंश और अणु है। यह हृदय में निवास करता है और ब्रह्म के समान ही शुद्ध और चेतन है। चेतन इस जीव का गुण है—और उसका यह गुण सर्वत्र फैल सकता है। इसीलिए वह अनेक स्थानों में व्याप्त रहता है।

मुक्ति—

महाप्रभु के मतानुसार गोलोकस्थ श्रीकृष्ण की सायुज्य प्राप्ति का नाम मुक्ति है। अपने इस कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं—श्रीकृष्ण को पति-रूप में भजना और सर्वात्मभाव रखना ही मुक्ति है। सर्वात्मभाव का अर्थ है—समस्त विश्व को ब्रह्मात्मक समझना। जब सब-कुछ उस सनातन ब्रह्म के रूप में दिखलाई देने लगता है—अथवा जब यह बोध हो जाता है कि ब्रह्मरूप कार्य का ब्रह्म ही कारण है, तब सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाता है। गीता में इसी सिद्धान्त को 'वासुदेव कुटुम्बकम्' कहकर बताया गया है।

महाप्रभु कहते हैं—शुद्ध जीव अथवा मुक्तियोगिन आत्मा ही ऐसी आत्मा है जो इस प्रकार की मुक्ति प्राप्त कर पाती है। वास्तव में उनके मतानुसार आत्माएँ तीन प्रकार की हैं—(१) मुक्तियोगिन, (२) नित्यसंसारिन और (३) तमोयोग। उनकी

दृष्टि में तमोयोग आत्मा सबसे निकृष्ट आत्मा है। संसार में जीवन निर्वाह करने के पश्चात् वह अनन्त काल के लिये अंधकार में चली जाती है और वहीं पड़ी रहती है। नित्यसंसारिन आत्मा अनन्त काल तक आवागमन के चक्कर में चक्कर लगाया करती है। मगर मुक्तियोगिन आत्मा की मुक्ति होती है; लेकिन उसे भी भगवान की कृपा के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। वह कहते हैं भगवत्प्रसाद से ही मुक्तियोगिन आत्मा में शद्ध पुष्टिमार्गीय भक्ति का उदय होता है—और उसी प्रीति द्वारा भगवान की उपासना होती है—और भगवान की कृपा से उस आत्मा को मुक्ति मिल जाती है।

साधना—

महाप्रभु की दृष्टि में भगवान का अनुग्रह ही मुक्तियोगिन आत्मा की मुक्ति का साधन है। और भगवान के इसी अनुग्रह का नाम आचार्य ने पुष्टि रक्खा है। निरोध अथवा अनुग्रह द्वारा मुक्ति का वर्णन करते हुए वह 'षोडशग्रन्थ' में लिखते हैं—

> हरिणा ये विर्निमुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
> ये निरुद्धास्तए वात्र मोद मायांत्यहर्निशं ॥११॥
> —(निरोध लक्षणम्)

जिनको भगवान का अनुग्रह नहीं मिला है, वे जीव भवसागर में डूब गये हैं और जिन्हें वह प्राप्त हुआ है, वे अहर्निशि आनन्द में मग्न हैं।

महाप्रभु ने पुष्टि को चार प्रकार का माना है—(१) प्रवाह पुष्टि, (२) मर्यादा पुष्टि, (३) पुष्टि पुष्टि और (४) शुद्ध पुष्टि! प्रवाह पुष्टि में भक्त सांसारिक बना रह कर भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति करता है। मर्यादा पुष्टि में वह संसार के समस्त सुखों से उदासीन होकर गुणगान और कीर्तन द्वारा भक्ति की साधना करता है। पुष्टि पुष्टि

में वह भगवान श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर लेता है; मगर साधना में बराबर लीन रहता है। और शुद्ध पुष्टि में भक्त भगवान पर पूर्ण-रूप से आश्रित हो जाता है। वास्तव में शुद्ध पुष्टि ही इनमें सर्वोपरि है।

शुद्ध पुष्टि का अधिकारी भक्त भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं में पूर्णरूपेण लीन हो जाता है। वह भगवान के सामीप्य को प्राप्त कर लेता है—इसीलिए वह कभी भगवान को पुत्र-रूप में भजता है, कभी सखा के रूप में और कभी प्राणाधार में रूप में! इस प्रकार यशोदा और नन्द भी वह है, श्रीदामा और सुदामा भी वह और गोपी भी वह ! यही कारण हैं—ऐसा वह भक्त आचार्य के सिद्धान्तानुसार कभी वात्सल्यासक्ति का अनुभव करता है, कभी सख्यासक्ति का और कभी कान्तासक्ति का! और कान्तासक्ति में पहुंचकर फिर वह आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और अन्त में परमविरहासक्ति में लीन होकर ऐहिक लीला का अन्त होने पर श्रीकृष्ण के गोलोक में जा विराजता है।

जीव की मुक्ति के निमित्त महाप्रभु पुष्टि-मार्ग को ही सर्वोपरि साधन समझते हैं; मगर ज्ञान और साधना वाले मार्ग में भी वह विश्वास करते हैं। ज्ञान और साधना वाले मार्ग को उन्होंने मर्यादा नाम से पुकारा है। इसीलिये वह शम-दमादि को बहिरङ्ग साधन मानते हैं और श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को अन्तरङ्ग साधन! उनकी दृष्टि में भगवान में चित्त की प्रवणता सेवा है और सर्वात्मभाव मानसी सेवा! यही कारण है जो आचार्य की सम्मति में पुष्टि मार्गीय साधन ही श्रेष्ठ है—क्योंकि ऐसा भक्त भगवान के स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की इच्छा और प्रार्थना नहीं करता।

माया—महाप्रभु वल्लभाचार्य माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं। मगर वह जीव और जगत् के सृजन में भगवान की इस शक्ति अथवा माया का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। माया के सम्बन्ध

में उनका यह भी कथन है कि यह हमारी दृष्टि से उस प्रभु को ओझल भी करती है और उससे मिलने में हमारी सहायता भी! वह ब्रह्म के वश में है—ब्रह्म उसके वश में नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से यह बात हमारी समझ में सरलतापूर्वक आ जाती है कि महाप्रभु के दार्शनिक सिद्धान्त अथवा पुष्टिमार्ग का उपरिविवेचित रूप भागवत के आधार पर है। यही कारण है जो इस मत के आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के बाद व्यास की समाधि भाषा—भागवत को भी प्रमाणचतुष्टय में गिनाया है—

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम ॥७६॥
—'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड'-पृष्ठ ४६

हम समझते हैं श्रीमद्भागवत का 'परात्पर भगवान श्री कृष्ण को नमस्कार, वाला यह श्लोक हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि करने में सहायक सिद्ध होगा—

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिना—
मन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥२॥

उन परात्पर और पुरुषोत्तम भगवान को मैं कोटि-कोटि बार नमस्कार करता हूं, जो संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की लीला करने के निमित्त सत्य, रज तथा तमोगुण रूप-इस प्रकार तीन शक्तियों को स्वीकार करके ब्रह्मा, विष्णु और शंकर का रूप धारण करते हैं। जो अन्तर्यामी भी हैं और सब ही प्राणियों के हृदय में विराजते हैं। जिनका स्वरूप और उसकी उपलब्धि का विषय बुद्धि से परे है। जो अनन्त हैं।

सच तो यह है, भागवत का उपर्युक्त श्लोक महाप्रभु के दार्शनिक सिद्धान्तों का सूक्ष्मतर स्वरूप है। इसीलिये प्रमाण चतुष्टय में भागवत की भी गणना की गई है। इस सम्बन्ध में श्री रामरतन भटनागर के निम्नलिखित शब्द उद्धृत करना हम आवश्यक समझते हैं।—

'......वल्लभाचार्य ने भागवत की कथा को लेकर उसके द्वारा साधना की एक पद्धति ही भक्तों के सामने उपस्थित कर दी। वास्तव में भागवत स्वयम् एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है जिसका आध्यात्मिक रूप कथाओं में छिप गया है। गोपी, रास, मुरली आदि सभी वस्तुओं का प्रयोग इस पुस्तक में प्रतीकार्थ में हुआ है। वल्लभाचार्य ने इन प्रतीकों को विकसित किया और सूरदास ने उनको रागात्मक रूप दिया। सच तो यह है कि वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों को मध्य-युग की भक्त-प्राण जनता के लिए सुबोध बनाने का सारा श्रेय सूरदास को है।'

'सूर-साहित्य की भूमिका' पृष्ठ ६२

इस प्रकार आचार्य वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों को समझ लेने के पश्चात् अब हम सूरदास के दार्शनिक विचारों का विवेचन करेंगे। यह हम पीछे कह ही आये हैं कि 'सूर-साहित्य' में जो भी दार्शनिक सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं—बीज-रूप में वे सब महाप्रभु वल्लभाचार्य के हैं; लेकिन उनकी व्याख्या पर सूरदास की छाप लगी है। यही कारण है जो ऐसे स्थलों पर सूरदास हमें मौलिक विचारक के रूप में दीख पड़ते हैं। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं, महाप्रभु ने माया की तुलना जहाँ 'कनककपिशं वासः' से की है—सूरदास ने उसे काली कमरी कहकर पुकारा है, देखिये—

यह कमरी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय मैं, सो तितनौ अनुमानति॥

या कमरी के एक रोम पर, वारौं चीर पटम्बर।
सो कमरी तुम निंदित गोपी, जो तिहुं लोक अडंबर॥
कमरी कैं बल असुर सँहारे, कमरिहिं तैं सब भोग।
जाति पाँति कमरी सब मेरी, सूर सबैं यह जोग॥ १५१५॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

इस प्रकार सूरदास के दार्शनिक विचारों में उनकी मौलिकत अनेक स्थलों पर दीख पड़ती है। राधा को कृष्ण की शक्ति क प्रतीक मानना तो सूरदास की सर्वोपरि और अद्वितीय मौलिकत है। जहाँ महाप्रभु ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में राधा क स्मरण किसी प्रकार भी नहीं किया है, वहाँ सूरदास ने उन ब्रह्म की शक्ति अथवा माया कहकर अभिनन्दित किया है औ यह उनकी मौलिकता का सर्वोच्च उदाहरण है।

सूरदास के अद्वैत निर्गुण ब्रह्म—सूरदास के शब्दों में हरि जो श्रीकृष्ण हैं, वही उनके इष्टदेव हैं। वह अजर, अम अविनाशी, पुरुषोत्तम, सर्वकर्तृ, सर्वभोक्ता, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी अनंत, आदि सनातन, अमल, अकल, अभेद परब्रह्म और अद्वैत हैं। वह उभयलिंग-युक्त अर्थात् निर्गुण-सगुण दोनों हैं। केवल वही हैं उनके अतिरिक्त और कोई नहीं है। वही ज्योतिरूप होक सबमें प्रकाशित होते हैं। समस्त सत्ता और समस्त चेतनत उन्हीं में से विकसित होती है और उन्हीं में लीन जाती है।

अपने ऐसे इष्टदेव श्रीकृष्ण का वर्णन सूरदास ने अपने पद में अनेक प्रकार से किया है। उदाहरण के लिए हम समझते निम्नलिखित पद पर्याप्त होंगे।

[विराट-रूप-वर्णन]

(१)

नैननि निरखि स्याम-स्वरूप ।
रह्यौ घट-घट व्यापि सोइ, जोति-रूप अनूप ।

चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास ।
सूर-चन्द्र-नछत्र-पावक, सर्व तासु प्रकास ॥ २७ ॥
—'सूरसागर' द्वितीयस्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(२)

[आरती]

हरि जू की आरती बनी ।
अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी ।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँड़ी सहस फनी ।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती सैल घनी ।
रवि-ससि-ज्योति जगत परिपूरन, हरति तिमिर रजनी ।
उड़त फूल उड़गन नभ अन्तर, अंजन घटा घनी ।
नारदादि सनकादि प्रजापति, सुर-नर-असुर-अनी ।
काल-कर्म-गुन-ओर-अन्त नहिं, प्रभु इच्छा रचनी ।
यह प्रताप दीपक सुनिरंतर, लोक सकल भजनी ।
सूरदास सब प्रगट ध्यान मैं अति विचित्र सजनी ॥ २८ ॥
—'सूरसागर'— द्वितीय स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(३)

(ब्रह्मा-वचन नारद के प्रति)

जो हरि करै सो होइ, करता राम हरी ।
ज्यौं दरपन-प्रतिबिम्ब, त्यौं सब सृष्टि करी ।
आदि निरंजन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर ।
रचौं सृष्टि-विस्तार, भई इच्छा इक औसर ।
त्रिगुन प्रकृति तैं महतत्त्व, महतत्त्व तैं अहँकार ।
मन-इन्द्री-सब्दादि-पँच, तातैं कियौ विस्तार ।
सब्दादिक तैं पंचभूत सुन्दर प्रगटाए ।
पुनि सबकौ रचि अंड, आपु मैं आपु समाए ।

तीनि लोक निज देह मैँ, राखे करि विस्तार।
आदि पुरुष सोई भयौ, जो प्रभु अगम अपार।""
॥ ३६ ॥

—'सूरसागर'—द्वितीय स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(४)

(दत्तात्रेय-अवतार)

""अत्रि पुत्र-हित बहु तप कियौ । तासु नारिहूँ यह ब्रत लियौ ॥
तीनौँ देव तहाँ मिलि आए। तिनसोँ रिषि ये वचन सुनाए॥
मैँ तौ एक पुरुष कौँ ध्यायौ। अरु एकहिँ सौँ चित्त लगायौ॥
अपने आवन कौ कहौ कारन। तुमहो सकल जगत-उद्धारन॥
कह्यौ तुम एक पुरुष जो ध्यायौ। ताकौ दरसन काहु न पायौ॥
ताकी सक्ति पाइ हम करैँ। प्रतिपालैँ बहुरौ संहरैँ॥
हम तीनौँ हैँ जग-करतार। माँगि लेहु हमसोँ वर सार॥
कह्यौ, विनय मेरी सुनि लीजै। पुत्र सुज्ञानवान मोहिँ दीजै॥
विष्नु-अंस सौँ दत्तऽवतरे। रुद्र-अंस दुर्वासा धरे॥
ब्रह्मा-अंसचंद्रमा भयौ। अत्रिऽनुसूया कोँ सुख दयौ॥
यौँ भयौ दत्तात्रेय अवतार। सूर कह्यौ भागवतऽनुसार॥३॥

—'सूरसागर'—चतुर्थ स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा

(५)

आदि सनातन, हरि अविनासी। सदा निरन्तर घट-घट वासी॥
पूरन ब्रह्म, पुरान बखानैँ। चतुरानन, सिव अन्त न जानैँ॥
गुन-गन अगम निगम नहिँ पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै॥
एक निरन्तर ध्यावै ज्ञानी। पुरुष पुरातन सो निर्वानी॥
जप-तप-संजम-ध्यान न आवै। सोई नंद कैँ आँगन धावै॥
लोचन-स्रवन न रसना-नासा। बिनु पद पानि करै परगासा॥
बिस्वंभर निज नाम कहावै। घर-घर गोरस सोइ चुरावै॥

सुक-सारद से करत विचारा । नारद से पावहिँ नहिँ पारा ॥
अबरन, बरन सुरति नहिँ धारै । गोपिनि के सो बदन निहारै ॥
जरा-मरन तैँ रहित अमाया । मातु, पिता, सुत, बंधु न जाया ॥
ज्ञान-रूप हिरदै मैँ बोलै । सो बछरनि के पाछैँ डोलै ॥
जल धर अनिल अनल नभ छाया । पंचतत्व तैँ जग उपजाया ॥
माया प्रगटि सकल जग मोहै । कारन-करन करै सो सोहै ॥
सिव-समाधि जिहि अन्त न पावै । सोइ गोप की गाय चरावै ॥
अच्युत रहै सदा जल-साई । परमानन्द परम सुखदाई ॥
लोक रचै राखै अरु मारै । सो ग्वालनि सँग लीला धारै ॥
काल डरै जाकैँ डर भारी । सो ऊखल बाँध्यौ महतारी ॥
गुन अतीत, अविगत, न जनावै । जस अपार स्तुति पार न पावै ॥
जाकी महिमा कहत न आवै । सो गोपिन सँग रास रचावै ॥
जाकी माया लखै न कोई । निर्गुन-सगुन धरै वपु सोई ॥
चौदह भुवन पलक मैँ टारै । सो बन-बीथिनि कुटी सँवारै ॥
चरन कमल नित रमा पलोवै । चाहति नैँकु नैन भरि जोवै ॥
अगम-अगोचर, लीला धारी । सो राधा-बस कुँज-बिहारी ॥
बड़भागी वै सब ब्रजवासी । जिनकैँ सँग खेलैँ अविनासी ॥
जा रसब्रह्मादिक नहिँ पावैँ । सो रस गोकुल-गलिन बहावैँ ॥
सूर सुजस कहि कहा बखानै । गोविँद की गति गोविँदजानै ॥३॥

— 'सूरसागर'-दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

इस प्रकार सूरदास ने अपने अनेक पदों में अद्वैत निर्गुण ब्रह्म के अनगिनती चित्र अङ्कित किये हैं । हमारे द्वारा उद्धृत पाँचवे पदमें इष्टदेव-सम्बन्धी उनके सभी विचार, सभी धारणायें एकके बाद एक आकर समागई-सी दृष्टिगोचर होती हैं । हम समझते हैं, इस एक ही पद में सूरदास ने इष्टदेव-सम्बन्धी सभी कुछ कहने का प्रयास किया है और भगवान के निर्गुण और सगुण रूप को एक साथ और लगातर रखने में वह सफल-मनोरथ हुये हैं । वह कहते

हैं—'हरि आदि सनातन, अविनाशी और निरन्तर घट-घट के वासी हैं। पुराण उन्हें पूर्णब्रह्म कहकर पुकारते हैं। शिव और ब्रह्मा उनका अन्त नहीं जान पाते। गुण-गण उनके अगम हैं, निगम भी उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते—मगर यसोदा उन्हें अपनी गोद में खिलाती हैं।' अपने इस पद में सूरदास इसी प्रकार इष्टदेव श्रीकृष्ण का अद्वैत निर्गुण रूप चित्रण करते हुये आगे बढ़े हैं और पद के अन्त में अपने इष्टदेव के 'सुजस' के 'बखान' में अपनी असमर्थता विचार 'गोविंद की गति गोविंद जानैं' कह कर चुप हो जाते हैं। बात भी ठीक है—अविगत की गति को वह किस प्रकार जान सकते हैं।

अपने इष्टदेव के सम्बन्ध में उनकी निर्गुण और सगुण वाली यह भावना उनके साहित्य में सर्वत्र दीख पड़ती हैं। प्रारम्भ से अन्त तक! इसलिए हम समझते हैं, महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पूर्व इष्टदेव के सम्बन्ध में उनके यही विचार थे, जो महाप्रभु की सहायता से और आगे बढ़े और निखर कर उभरे! कह सकते हैं; परिपक्क हुए—क्योंकि विनय के पदों में जहाँ उनके ये विचार यत्र-तत्र और अविकसित से दृष्टिगोचर होते हैं, वहाँ आगे चलकर पग-पग पर और पूर्ण परिपक्क अवस्था में दिखलाई पड़ते हैं। इस विचार से वास्तव में उनके विनय के पद कुछ इस तरह के हैं जैसे किसी दुखी और असहाय व्यक्ति का रुदन! जिसमें अपने 'भरोसे' पर अन्ध-विश्वास है और आत्मा की प्रबल पुकार है। और जो जी में आरहा है, कहा जा-रहा है—यह सोच कर, शायद इसी तरह प्रसन्न होकर 'भरोसा' अपनी शरण में ले ले! शायद यही कारण है जो श्रीमुन्शीराम शर्मा 'सोम' को सूरदास के इन पदों में आचार्य शङ्कर के दार्शनिक सिद्धान्तों की झलक दिखलाई दे गई है। अन्यथा ऐसा है नहीं। और सत्य यही है कि सूरदास के इष्टदेव अद्वैत निर्गुण ब्रह्म हैं। 'सारावली' से उद्धृत

निम्नलिखित पंक्तियों में भी उनका यही भाव, यही विचार निहित है—

> आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार।
> ऊँकार आदि वेद असुर हन निर्गुण सगुण अपार ॥६६३॥

तथा 'सूरसागर'—प्रथम स्कन्ध की इन पंक्तियों में भी—

> ... वेद उपनिषद् जासु कौं, निरगुनहिं बतावै।
> सोइ सगुन ह्वै नन्द की दाँवरी बँधावै ॥.......
> ॥ ४ ॥

और 'सूरसागर' के एकादशस्कंध में हंसावतार के वर्णन में भी सूरदास ने अपने यही भाव व्यक्त किये हैं—

> ....ब्रह्माहरि-पद ध्यान लगाए। तब हरि हंस रूप धरि आए॥
> सबनि सो रूप देखि सुखपायौ। सबहिनि उठि कै माथौ नायौ॥
> सनकादिक न कह्यौ या भाइ। हमकौं दीजै प्रभु समझाइ॥
> को तुम क्यौं करि इहाँ पधारे। परम हंस तब वचन उचारे॥
> यह तौ प्रश्न जोग है नाहीं। एकै आतम हम तुम माहीं॥
> जौ तुम देह देखि कै पूछौ। तौहू प्रश्न तुम्हारौ छूछौ॥
> पंचभूत ते सब तन भए। कहा देखि कै तुम भ्रमि गए॥...
> ॥४॥

(द्वितीय खंड) का० ना० प्र० सभा।

वास्तव में, अपने इष्टदेव के सम्बन्ध में, सूरदास का विश्वास है—उनके इष्टदेव श्रीकृष्ण पूर्ण परब्रह्म, निर्गुण और निराकार हैं; मगर अपने भक्तों के निमित्त वह सगुण रूप धारण करते हैं और उनके इष्टदेव के इसी भाव में उस प्रभु की भक्तवत्सलता का भाव निहित है। इसीलिये सूरदास का सगुण ब्रह्म परमानन्दरूप और भक्तवत्सल है। और अपने इष्टदेव के सगुण रूप पर उनका विश्वास

अपरमित है—यही कारण है जो उन्होंने परमानन्दरूप और भक्त-वत्सल सगुण ब्रह्म के भी अनेकों चित्र चित्रित किए हैं। कह सकते हैं, इष्टदेव का यही सगुण रूप 'सूर-साहित्य' का आधार है, जिस पर उसका ढांचा अविचल और अडिग खड़ा है। और संसार के अस्तित्व तक वह बराबर इसी प्रकार खड़ा रहेगा। मगर जब सूर के प्रभु अपने इस संसार रूपी पसारे को समेटेंगे—तो यह भी उन्हीं में समा जायेगा।

अपने सभी ग्रन्थों में सूरदास ने लीलाधारी कृष्ण की लीलाओं को खूब विस्तार के साथ लिखा है-साथ ही उन्होंने प्रभु के प्रत्येक अवतार की कथा को पूर्ण विकसित रूप दिया है, जिससे भगवान के सगुण रूप के प्रति उनकी गहरी आस्था का बोध होता है। वास्तव में, सूरदास ने सभी अवतारों को परब्रह्म कृष्ण का ही अवतार माना है, उनमें से कृष्ण अवतार भी एक है-इसीलिए सूरदास अवतार-वर्णन में खूब रमे हैं। मगर भगवान के सभी अवतारों में उन्होंने कृष्ण-अवतार को सबसे अधिक प्रमुखता दी है, रामावतार को उससे कम और अन्य अवतारों को तृतीय स्थान पर उन्होंने रक्खा है।

अपने इष्टदेव परब्रह्म श्रीकृष्ण को उन्होंने त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और महेश से बहुत ऊँचा माना है। अपने इस भाव को उन्होंने दत्तात्रेय-अवतार वर्णन आदि अनेक स्थलों पर स्पष्ट किया है। इस कथा में उन्होंने परब्रह्म श्रीकृष्ण को 'एक पुरुष' कहकर सम्बोधित किया है। 'दत्त प्रजापति के यज्ञ' की कथा में 'यज्ञपुरुष' कहकर और 'रामकथा' में राम कहकर। इस प्रकार उन्होंने निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप धारण करने पर उसको विष्णु, हरि, राम, कृष्ण आदि अनेक नाम दिये हैं; मगर हरि नाम का प्रयोग बहुत अधिक हुआ दीख पड़ता है। जान पड़ता है, सूरदास को हरिनाम बहुत अधिक प्रिय है।

इसलिये यह बात अब हम साधिकार कह सकते हैं कि सूरदास के इष्टदेव वास्तव में निर्गुण हैं; मगर अपने भक्तों पर दया के हितार्थ वह सगुण रूप भी धारण करते हैं—और सूरदास को अपने इष्टदेव कृष्ण के ये दोनों रूप ही प्रिय हैं—इसीलिये उन्होंने निर्गुण में सगुण और सगुण में निर्गुण को सर्वदा देखा है। और क्योंकि उनका निर्गुण ब्रह्म ही सगुण है और सगुण ही निर्गुण—इसीलिये हमने उनके इष्टदेव को अद्वैत निर्गुण ब्रह्म कहकर पुकारा है। और श्रीकृष्ण ही ऐसे उनके अद्वैत निर्गुण ब्रह्म हैं।

ब्रह्म के सम्बन्ध में आचार्य वल्लभ का भी-यही मत है इसलिये इस बात को निःसंकोच कहा जा सकता है कि सूरदास का कृष्ण को ही पूर्ण ब्रह्म समझना महाप्रभु के ही मतानुसार है और इस सिद्धांत को उन्होंने उन्हीं से सीखा। मगर इस ओर की जो उनकी मौलिकता है, वह है ब्रह्म के त्रिविधि अवतारों में सामंजस्य स्थापित करना अथवा सबको एक-कर देखना। जैसे·—

[बाल-छवि-वर्णन]

बरनौं बाल - भेष मुरारि।
थकित जित-तित अमरमुनि-गन, नन्द-लाल निहारि।
केश सिर बिन बपन के चहुं दिसा छिटके झारि।
सीस पर धरि जटा, मनु सिसु-रूप कियौ त्रिपुरारि।
तिलक ललित ललाट केसरि-बिन्दु सोभाकारी।
रोष अरुन तृतीय लोचन, रह्यौ जनु रिपु जारि।
कण्ठ कठुला नील मनि, अंभोज-माल-सँवारि।
गरल ग्रीव, कपाल उर इहिँ भाइ भए मदनारि।
कुटिल हरि-नख हिऐं हरि के हरषि निरखति नारि।
ईस जनु रजनीस राखौ भाल तैं जु उतारि।
सदन-रज तन स्याम सोभित, सुभग इहिँ अनुहारि।

मनहुँ अंग-विभूति-राजति संभु सो मधुहारि ।
त्रिदस-पति-पति असन कौँ, अति जननी सौँ करे आरि
सूरदास विरंचि जाकौँ जपत निज मुख चारि ॥ १६६ ॥
—'सूरसागर' दशमस्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

उनका यह प्रयत्न राम और कृष्ण अवतारों के बीच विशेष रूप से लक्षित होता है । इसीलिए श्रीरामरतन भटनागर अपनी पुस्तक 'सूर-साहित्य की भूमिका' के ६७ वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

'.......श्री जनार्दन मिश्र ने अपनी पुस्तक के ७१ वें पृष्ठ पर इस ओर संकेत किया है। यशोदा कृष्ण को राम-कथा सुना रही हैं। जब वे सीता-हरण प्रसंग पर आती हैं तो कृष्ण नींद से चौंक उठते हैं—

रावण हरण सीता को सुनि करुणामय नींद बिसारी।
सूर श्याम कर उठे चाप को लछिमन देहु जननी भ्रम भारी ॥

इस पद से यह प्रकट होता है कि सूरदास कृष्णावतार और रामावतार में कुछ भी अन्तर नहीं समझते थे। उन्होंने दोनों कहानियों को बड़े कथात्मक ढङ्ग से एक सूत्र में गूँथ दिया है। सूरसारावली पद ११३ में सूरदास ने कहा भी है—'रामकृष्ण अवतार मनोहर भक्तन हित काज ।' इसके अतिरिक्त उन्होंने रामावतार और कृष्णावतार के कितने ही कथा-प्रसंगों को एक ही स्थान पर रख दिया है जैसे वे एक ही अवतार के जीवन में घटी हों ।'

उस युग की इस विशेषता को तुलसीदास ने भी अपनी कविता में सँजोया है। और 'कृष्ण गीतावली' राम-भक्त कवि तुलसीदास के इसी प्रयत्न का फल है। मगर अपने इस प्रयत्न में जितने सूरदास सफल हुये हैं उतने तुलसी नहीं।

सृष्टि अथवा जगत्—सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन सूरदास ने

श्रीमद्भागवत के आधार पर किया है। चतुर्विंशति-अवतार वर्णन करते हुए ब्रह्मा नारद से कहते हैं-कर्त्ता 'रामहरि' है, जो वह करता है, वही होता है। जिस प्रकार दर्पण में देखने वाले का ही प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है, उसी प्रकार सृष्टि में वह ब्रह्म हरि ही प्रतिबिम्बित होता है। उससे पूर्व कोई भी नहीं था-वह आदि निरञ्जन और निराकार है। उस हरि की इच्छा से इस जगत् का आविर्भाव हुआ। एक दिन उसके अन्दर सृष्टि-रचना की इच्छा का उदय हुआ और सत, रज और तम, इस प्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति से महतत्व, महतत्व से अहंकार और अहंकार से मन, इन्द्रिय आदि पंचतन्मात्रा और पञ्चमहाभूत प्रगट किये। फिर, सबको इकट्ठा कर एक अण्डे का रूप दे दिया -और तब उस आदि पुरुष भगवान ने उस अण्डे में प्रवेश किया-अर्थात् वह स्वयं स्वयं में ही समा गये। उस आदि पुरुष के गर्भ में ही तीनों लोक रहते हैं-वह अगम और अपार है। उस आदि पुरुष ने अपनी नाभि से कमल उत्पन्न किया, और उस कमल से मुझे उत्पन्न किया। मैंने उस कमल-नाल का अन्त जानने के लिए युगों तक खोज की; मगर मुझे उसका अन्त नहीं मिला। फिर, उस आदि पुरुष ने मुझे सृष्टि-रचना की आज्ञा दी और मैंने स्थावर जङ्गम, सुर-असुर वाली सृष्टि का निर्माण किया।''''सूरसागर'-पद-सख्या ३६ द्वितीय स्कन्ध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

ब्रह्मा की उत्पत्ति विषयक सूरदास का यह वर्णन श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में दिये हुए वर्णन के आधार पर है। साथ ही उनके इस पद में महाप्रभु वल्लभाचार्य का जगत्-सम्बन्धी सिद्धान्त ज्यों का त्यों लिपिबद्ध हुआ दीख पड़ता है। जैसा कि हम महाप्रभु के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए पीछे कह आये हैं कि वह इस जगत् को ब्रह्म का कार्य मानते हुए ब्रह्म ही को उसका कारण मानते हैं—उसी प्रकार सूरदास ने भी अपने इस पद में 'ज्यौं दरपन-प्रतिबिम्ब, त्यौं सब सृष्टि करी।' तथा 'पुनि सबकौ

चि अंड, आपु मैं आपु समाए।' कहकर बहुत ही सीधे शब्दों में महाप्रभु की दर्शन-वाणी को ही प्रतिध्वनित किया है।

सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक अन्य पद भी 'सूरसागर' में मिलता है—जो निम्नलिखित है—

"कपिल कहौ हरि कौ निज रूप। अरु पुनि माया कौन स्वरूप?
देवहूति जब या विधि कह्यौ। कपिलदेव सुनि अति सुख लह्यौ।
कह्यौ, हरि कैं भय रवि-ससि फिरैं। वायु बेग अतिसै नहिं करैं।
अगिनि दहै जाकैं भय नाहिं। सो हरि माया जा बस माहिं।
माया कौं त्रिगुनात्मक जानौ। सत-रज-तम ताके गुन मानौ।
तिन प्रथमहिं महतत्व उपायौ। तातैं अहंकार प्रगटायौ।
अहङ्कार कियौ तीनि प्रकार। सत तैं मन सुर सातऽरुचार।
रजगुन तैं इन्द्रिय बिस्तारी। तमगुन तैं तन्मात्रा सारी।
तिनतैं पंचतत्व उपजायौ। इन सबकौ इक अण्ड बनायौ।
अंड सो जड़ चेतन नहिं होइ। तब हरि-पद-छाया मन पोइ।
ऐसी विधि बिनती अनुसारी। महाराज बिन सक्ति तुम्हारी।
यह अंडा चेतन नहिं होइ। करहु कृपा सो चेतन होइ।
तामैं सक्ति आपनी धरो। चच्छ्वादिक इन्द्री बिस्तरी।
चौदह लोक भए ता माहिं। ज्ञानी ताहि बिराट कहाहिं।
आदि पुरुष चेतन कौं कहत। तीनौं गुन जामैं नहिं रहत।
जड़ स्वरूप सब माया जानौ। ऐसौ ज्ञान हृदै मैं आनौ।"...
॥ १३ ॥

—'सूरसागर'-तृतीय स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

उपर्युक्त पद्यांश 'सूरसागर' में देवहूति-कपिल संवाद के अन्तर्गत् है। सृष्टि की उत्पत्ति का यह वर्णन श्रीमद्भागवत के भी तृतीय स्कन्ध में आया है। देवहूति के द्वारा ब्रह्म और माया के स्वरूप के सम्बन्ध में पूछने पर कपिल मुनि कहते हैं—हरि अथवा आदि पुरुष चेतन है और सत, रज और तम—इन तीनों गुणों से रहित

है। माया जड़ है और त्रिगुणात्मिका है । यही त्रिगुणात्मिका माया हरि के वश में है । उसी के भय से रवि और शशि आकाश में विचरण करते हैं। वायु और अग्नि सन्तुलन में रहती हैं। ऐसे ही उस हरि की इच्छा करने पर त्रिगुणात्मिका माया से महतत्व का जन्म होता है। उस महतत्व से वह अहङ्कार को उत्पन्न करता है। अहंकार तीन प्रकार का होता है। अहंकार के सतगुण अथवा वैकारिक अहंकार से मन तथा दस ऋषि—इस प्रकार ग्यारह देवताओं को जन्म देता है । उसके रजगुण अथवा तैजस अहङ्कार से दस इन्द्रियों और उसके तमगुण अथवा तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है। पाँच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इस प्रकार पञ्चतत्व उत्पन्न कर—फिर इन सब का एक पिंड बना लेता है। मगर वह पिंड उस समय तक जड़ रहता है, जब तक हरि की उस पर कृपा नहीं होती। माया के प्रार्थना करने पर फिर वह हरि उस पिंड को चेतन कर देता है। अपनी शक्ति उस पिंड में स्थापित कर फिर वह हरि चक्षु आदि इन्द्रियों का विस्तार करता है। इस प्रकार उस हरि अथवा आदि पुरुष के द्वारा चौदह लोक उत्पन्न होते हैं। ज्ञानी जन इसी को भगवान का विराट् रूप कहते हैं।

महाप्रभु कहते हैं—जगत् मायिक नही है और न वह ब्रह्म से भिन्न ही है। ब्रह्म भी सत् है और यह जगत् भी ! प्रभु की इच्छा से ही इसका आविर्भाव होता है और उसकी इच्छा से ही तिरोभाव ! अपने उपर्युक्त पद में सूरदास ने आचार्य की इसी वाणी को गाया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य भी यही कहते हैं और सूरदास भी—इस जगत् का आविर्भाव ब्रह्म की इच्छा से ही होता है—और तिरोभाव भी ! अपने निम्नलिखित पद में सूरदास ने जगत् के तिरोहित होने का वर्णन किया है, देखिये—

""राजा प्रलय चतुर्विधि होइ । आवत जात चहूं मैं लोइ ॥

जुग परलय तौ तुमसों कही। तीन और कहिवे कौं रही ॥
चतुर-जुगी वीतैं इकहत्तर । करै राज तव लगि मनवन्तर ॥
चौदह मनु ब्रह्मा-दिन माहिँ। वीतत तासौं कल्प कहाहिँ ॥
राति होइ तव परलय होइ। निस मरजादा दिन सम होइ ॥
प्रात भएँ जव ब्रह्मा जागै। वहुरौ सृष्टि करन कौं लागै ॥
दिन सौ तीनि साठि जव जाहिँ। सो ब्रह्मा कौ वर्ष कहाहिँ ॥
वर्ष पचास परारध कहिए। प्रलय तीसरी या विधि रहिऐ ॥
वहुरौ ब्रह्मा सृष्टि उपावै। जव लौं परारध दूजौ आवै ॥
सत संवत भए ब्रह्मा मरैं। महा प्रलय तव हरि जू करैं ॥
माया माहिँ नित्य-लय पावै। माया हरि-पद माहिँ समावै ॥
हरि कौ रूप कह्यौ नहिँ जाइ। अलख अखंड सदा इक भाइ ॥
फिरि जव हरि की इच्छा होइ। देखैं माया की दिसि जोइ ॥
माया सव सवहिँ उपजावै। ब्रह्मा ह्वै पुनि सृष्टि उपावै ॥
उतपति प्रलय सदा यौं होइ। जन्मैं-मरैं सदाई लोइ ॥....
॥ ४ ॥

—'सूरसागर'— द्वादश स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

इस सम्बन्ध में महाप्रभु का कथन है—जगत् का जव तिरोभाव होता है तो वह हरि कारण रूप से और जव उसका आविर्भाव होता है तो वह प्रभु कार्य रूप से सर्वदा स्थित रहता है। इस प्रकार भगवान की इच्छा से ही सव-कुछ होता है। और सूरदास के उपर्युक्त पद में महाप्रभु का यही भाव निहित है। अन्तिम चार पंक्तियों में तो उन्होंने महाप्रभु की इस दर्शन-वाणी को सीधे-सादे शब्दों में स्पष्ट रूप से कहने का सफल प्रयत्न किया है। जगत् और जीव की उत्पत्ति और उनके तिरोहित होने का यही रहस्य है।

जीव—महाप्रभु वल्लभाचार्य के कथनानुसार यह जीव ब्रह्म का अंश और अणु है। हृदय इस का निवास स्थान है। ब्रह्म की

भाँति ही यह शुद्ध और चेतन है—और क्योंकि यह चेतन है—इसलिए हृदय में रहते हुये भी यह सर्वत्र फैलने में समर्थ है— यह अनेक स्थानों में व्याप्त हुआ दीख पड़ता है।

और जीव-सम्बन्धी महाप्रभु के इस दार्शनिक सिद्धान्त को सूरदास ने अपनी विचार-माला में इस प्रकार गूँथा है—

जिय करि कर्म, जन्म बहु पावै। फिरत-फिरत बहुतै स्रम आवै।
रु अजहुं न कर्म परिहरै। जातैं याकौ फिरबौ टरै।
तन स्थूल अरु दूसर होइ। परमातम कौं ये नहिँ दोइ।
तनु मिथ्या, छन-भंगुर जानौ। चेतन जीव, सदा थिर मानौ।
जिय कौं सुख-दुख तन संग होइ। जो विचरै तन कैं संग सोई।
देहऽभिमानी जीवहिँ जानै। ज्ञानी तन अलिप्त करि मानै।

\+ + + + +

जीव कर्म करि बहु तन पावै। अज्ञानी तिहिँ देखि भुलावै।
ज्ञानी सदा एक रस जानै। तन कैं भेद भेद नहिँ मानै।
आत्म, अजन्म सदा अविनासी। ताकौं देह-मोह बड़ फाँसी।
॥ ४ ॥

—'सूरसागर'-पंचम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा

उपर्युक्त पद 'सूरसागर' में जड़भरत-रहूगण-संवाद के अन्तर्गत है। श्रीमद्भागवत के अनुसार जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं—जीव शरीर से भिन्न है। शरीर नश्वर है—इसलिये मिथ्या है। जीव चेतन है, इसलिये वह अविनाशी है। कर्म करने वाला जीव है। उसके द्वारा संपादित होने वाले नाना प्रकार के कर्म ही उसको विविध शरीर धारण करने के लिये बाध्य करते हैं। अज्ञानी-कर्मानुसार प्राप्त होने वाले इन नाना प्रकार के शरीरों को देखकर भ्रमित हो जाता है। मगर ज्ञानी इस भ्रम में नहीं फँसता। वह आत्मा

के अविनाशी रूप में ही विश्वास करता है।

इसीलिये वैष्णव सम्प्रदाय में जीवात्मा और परमात्मा की एकता को नित्य कहकर माना गया है। यही कारण है जो आचार्य वल्लभ जीव, ब्रह्म और प्रकृति को एक ही कहकर पुकारते हैं। वह जीव और प्रकृति की अलग-अलग सत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्हें ब्रह्म का ही अङ्ग मानते हैं। इस सम्बन्ध में सूरदास के भी यही विचार हैं, जो उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में निहित हैं—

समुझि री नाहिँन नई सगाई।
सुनि राधिके तोहिँ माधौ सौँ, प्रीति सदा चलि आई॥
जब जब मान कियौ मोहन सौँ, विकल होत अधिकाई।
विरहानल सब लोक जरत हैँ, आपु रहत जल साई॥
सिंधु मथ्यौ, सागर बल बाँध्यौ, रिपु रन जीति मिलाई।
अब सो त्रिभुवन-नाथ नेह-बस, बन बाँसुरी बजाई।
प्रकृति पुरुष, श्रीपति, सीतापति, अनुक्रम कथा सुनाई।
सूर इसी रस रीति स्याम सौँ, तैँ ब्रज बसि बिसराई॥२८१६॥
—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

+ + + + +

सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब है अंश गोपाल॥ ११०१॥
—'सूरसारावली'

माया— आचार्य वल्लभाचार्य के मतानुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। वह त्रिगुणात्मिका है। वह दो रूपों वाली है। अपने एक रूप से वह ब्रह्म को हमारी दृष्टि से ओझल करती है और अपने दूसरे रूप से वह उस प्रभु से मिलने में हमारी सहायता करती है। वह प्रभु उसके वश में नहीं है, इसके विपरीत वह

स्वयं उस प्रभु के वश में है। जगत् के आविर्भाव के समय ब्रह्म की इच्छा से वह सृष्टि का विकास करती है और उसके तिरोभाव के समय वह उसी ब्रह्म में लीन हो जाती है।

और सूरदास के माया-सम्बन्धी विचार महाप्रभु के इसी दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित हैं। इसीलिए उन्होंने सत, रज और तम से ओत-प्रोत माया को ब्रह्म की शक्ति स्वीकार करते हुए उसका दो रूपों में वर्णन किया है। उसके प्रथम स्वरूप का चित्रण करते हुए वह कहते हैं—

माया कौं त्रिगुनात्मक जानौं। सत-रज-तम ताके गुन मानौ।

+ + +

जड़ स्वरूप सब माया जानौ। ऐसौ ज्ञान हृदै मैं आनौ।

सत, रज और तम नामक गुणों से परिपूर्ण माया त्रिगुणात्मक है। वह जड़ है और ब्रह्म के वशीभूत है। जगत का जब तिरोभाव होता है तो यह माया हरि ब्रह्म के पदों में समा जाती है—

माया माहिँ नित्य-लय पावै। माया हरि-पद माहिँ समावै॥

मगर माया का यह त्रिगुणात्मक रूप ब्रह्म को हमारी दृष्टि से ओझल करता है—इसीलिए सूरदास ने मायाके इस प्रथम स्वरूपकी अपने विनय के पदों में अनेक बार भर्त्सना की है। उन्होंने इसे मोहिनी, नटनी, भुजंगिनी आदि अनेक ऐसे नामों से पुकारा है, जिनमें उनके मन की घृणा स्पष्ट लक्षित होती है। साथ ही माया को उन्होंने एक दार्शनिक नाम भी दिया है—अविद्या! जिसमें उनके मन का वही भाव निहित है, जो नटिनी, भुजंगिनी आदि नामों में है। साथ ही अपने इन पदों में उन्होंने माया अथवा अविद्या के विविध अङ्गों—काम, क्रोध, मोह, विषय, भ्रम, निन्दा तृष्णा, लोभ, मद, चन्दन, वनिता, विनोद, सुख, कुसंगत, विवशता आदि का अनेक बार उल्लेख किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं, माया का यह रूप सूरदास को

अप्रिय है—क्योंकि सद्यः भक्त सूरदास की भक्ति-साधना में यह विघ्न बनकर उपस्थित होता है। वास्तव में, माया-जनित संसार के बहुरंगी विविध पदार्थ चेतन का स्पर्श पाकर इतने आकर्षक और अनूठे दृष्टिगोचर होने लगते हैं कि जीव सहसा उनकी ओर खिंच जाता है। फिर उनकी मादकता उसको मोह के पाश में इतनी बुरी तरह से जकड़ देती है कि वह उनका उपभोग करने में ही सुख का अनुभव करने लगता है। वह यह भूल ही जाता है कि किसलिये वह इस संसार में आया है और माया के भ्रम-जाल में फँसकर वह कर क्या रहा है। और इस प्रकार निन्यानवें के चक्कर में पड़ा हुआ वह जीव फिर यह समझने की इच्छा भी नहीं करता कि संसार के ये विविध पदार्थ माया के इस रूप के कारण ही सत्य से प्रतीत होते हैं। अन्यथा वास्तव में ये नश्वर हैं—और सत्य और अविनाशी केवल वही है जो इनमें चेतन बनकर चमक रहा है। और वह है—ब्रह्म! जिसकी इच्छा पर सब कुछ आधारित है—जो अजर, अमर और सर्वकर्तृ है। जिसको प्राप्त कर फिर और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता।

इसीलिये सूरदास ने माया के इस रूप की मन भर कर विगर्हणा की है। निम्नलिखित कतिपय उनके ये पद उनके इसी भाव के सूचक हैं—

> विनती सुनौ दीन की चित दै, कैसैं तुव गुन गावै?
> माया नटी लकुटि कर लीन्हें कोटिक नाच नचावै।
> दर-दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वाँग बनावै।
> तुम सौं कपट करावति प्रभु जू मेरी बुधि भरमावै।
> मन अभिलाष-तरंगनि करि करि, मिथ्या निसा जगावै।
> सोवत सपने मैं ज्यौं संपति, त्यौं दिखाइ बौरावै।
> महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहिँ लगावै।
> ज्यौं दूती पर-बधू भोरि कै, लै पर-पुरुष दिखावै।

मेरे तो तुम पति, तुम्हीँ गति, तुम समान को पावै ?
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु, को मो दुख बिसरावै ॥ ४२ ॥
'सूरसागर' प्रथम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(२)

हरि, तुव माया को न बिगोयौ ?
सौ जोजन मरजाद सिंधु की, पल मैँ राम बिलोयौ ।
नारद मगन भए माया मैँ, ज्ञान-बुद्धि बल खोयौ ।
साठि पुत्र अरु द्वादस कन्या, कण्ठ लगाए जोयौ ।
संकर कौ मन हर्यौ कामिनी, सेज छाँड़ि भू सोयौ ।
चारु मोहिनी आइ आँध कियौ, तब नख-सिख तैँ रोयौ ।
सौ भैया दुरजोधन राजा पल मैँ गरद समोयौ ।
सूरदास कंचन अरु काँचहीँ एकहीँ धगा पिरोयौ ॥ ४३ ॥
—'सूरसागर'—प्रथम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

(३)

माया देखत ही जु गई ।
ना हरि-हित, ना तू हित, इनमैँ एकौ तौ न भई !
ज्यौँ मधुमाखी सँचति निरन्तर, बन की ओट लई ।
व्याकुल होत हरे ज्यौँ सरबस, आँखिनि धूरि दई ।
सुत-सन्तान-स्वजन-बनिता-रति, घन समान उनई ।
राखे सूर पवन पाखँड हति, करी जो प्रीति नई ॥ ५० ॥
—'सूरसागर' प्रथम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा ।

माया के आकर्षणों के बीच घिरी हुई आत्मा कठिनाई से प्रभु-भजन में लीन हो पाती है । इन आकर्षणों में से मुक्त होने के लिए जीव जितना ही प्रयत्न करता है, ये आकर्षण उतने ही वेग से उसकी ओर झपटते हैं और उसे अपने बीच रोक-रखने की कोशिश करते हैं । शीघ्र ही उनका वेग दूना हो जाता है—और जीव उनसे बच-निकलने में स्वयँ को असमर्थ और निस्सहाय

अनुभव करने लगता है—तो अपने प्रभु से वह विनय करता है—हे प्रभु ! मैं दीन तुम्हारे गुणों का गान किस प्रकार करूँ ? यह नटिनी माया अपने हाथ में लकुटि लेकर मुझे कोटिक़ नाच नचाती है। लोभ की लागि लिये हुए नाना प्रकार के वेशों में मुझे यह हर जगह मिल जाती है और मेरी बुद्धि को भ्रमित कर देती है। और मैं तुम्हारे साथ कपट का व्यवहार करने लगता हूँ। सपने की सम्पत्ति के समान मिथ्या और निशा-रूप अभिलाषाओं की तरंगें मेरे मन में उत्पन्न कर यह मेरी बुद्धि को भ्रम में डाल देती है। यह महामोहिनी माया मेरी आत्मा को पाप के मार्ग पर इसी प्रकार ले चलती है, जिस प्रकार दूती पर-वधू को भरमाकर पर-पुरुष के पास ले जाती है। सूरदास कहते हैं—हे प्रभु, तुम ही मेरे पति हो, तुम ही गति हो। तुम्हारे समान और कौन है, मेरे लिये ! तुम्हारी कृपा के बिना मैं अपने दुखों को किस प्रकार भूल सकता हूं।

पीछे उद्धृत द्वितीय पद में उन्होंने माया के व्यापक प्रभाव का वर्णन किया है। माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हुये वह कहते हैं—हे हरि ! ऐसा कौन है, जिस पर तुम्हारी माया ने अपना प्रभाव न डाला हो। तुम्हारी इस माया की शक्ति से ही राम ने सौ योजन की मर्यादा वाले समुद्र को पल भर में ही बिलो डाला था। नारद ने तुम्हारी इस माया में मग्न होकर ही अपने ज्ञान और बुद्धि के बल को खो-दिया था और वह साठ पुत्र और बारह कन्याओं को कण्ठ से लगाये हुये दीख पड़े थे। तुम्हारी इस माया ने जब कामिनी बनकर शङ्कर के चित्त को मोह लिया था—तो, शङ्कर सेज को छोड़कर पृथ्वी पर सोने लगे थे। और जब वह मोहिनी जलाकर नष्ट कर दी गई तो वह नख-शिख से रोये थे। दुर्योधन राजा के सौ भाई पलभर में ही धूल में मिला दिये गये थे।

अपने एक पद में सूरदास ने माया को कुलटा स्त्री के रूप

में रखकर उसकी व्यापक मोहिनी शक्ति का वर्णन किया है। और इससे अगले पद में वह उसकी व्यापक मोहिनी शक्ति की प्रबलता का परिचय देते हुये कहते हैं--हे प्रभु ! जब मैं किसी प्रकार अपने मन में तेरे प्रति विश्वास उत्पन्न कर साधुओं की संगति में जाता हूँ—तभी तेरी प्रबल माया मेरे मन में भ्रम उत्पन्न कर मुझे भरमा देती है—और तेरा भजन करने में मैं असमर्थ हो जाता हूँ। ...लिये आगे चलकर वह कहते हैं—

....मैं अज्ञान कछू नहिँ समझयौ, परि दुख-पुंज सह्यौ।
बहुतक दिवस भए या जग मैँ, भ्रमत फिर्‌यौ मति-हीन।
सूर स्यामसुन्दर जौ सेवै, क्यौँ होवै गति दीन॥ ४६॥
'सूरसागर'—प्रथम स्कंध (पहिला खड) का० ना० प्र० सभा

हे श्यामसुन्दर ! मैं जानता हूँ—अगर तेरा स्मरण मैं करूँ तो मेरी यह दीन-गति क्यों हो—मगर तेरी माया अथवा अज्ञान के तिमिर में पड़कर मैं अपना 'परम ठिकाना' तुझे भूल जाता हूं। अनेक रूपों वाली यह माया मुझे संसार के बन्धनों में बाँधे हुए है—और मैं माया के इन अनगिनती रूपों—धन-सम्पदा, सुत-सन्तान, सुजन, स्त्री आदि में मोह-ग्रस्त रहकर, अज्ञान के तिमिर में पड़ा हुआ अनेक दुख सह रहा हूँ—और इस प्रकार मति-हीन होकर भरमते हुए मुझे इस संसार में अनेकदिवस व्यतीत हो गये हैं।

माया-वर्णन के इन पदों में सूरदास ने यह बात स्पष्ट शब्दों में कहने का प्रयत्न किया है कि यह माया ही है जो जीव को सांसारिक असत्य और नश्वर सुखों में लीन कर जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं होने देती। जीव अपने प्रभु को तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह माया के इस सुनहरे और असत्य पाश से छुटकारा पा-जाये। इस सम्बन्ध में उनका विश्वास है, जीव का मोह-बन्धन तभी टूट सकता है, जब प्रभु उस पर कृपा

करें। इसीलिये माया को अविद्या बतलाते हुये वह प्रभु से निवेदन करते हैं—

माधौ जू, यह मेरी इक गाइ।
अब आज तैं आप-आगैं दई, लै आइयै चराइ ॥
यह अति हरहाई, हटकत हूँ बहुत अमारग जाति।
फिरति वेद-वन-ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति ॥
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माँह।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाँह ॥
निधरक रहौ सूर के स्वामी, जनि मन जानौ फेरि।
मन ममता रुचि सौं रखवारी, पहिलैं लेहु निबेरि ॥ ५१ ॥

—'सूरसागर' प्रथम स्कंध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

हे माधव ! यह एक मेरी गाय है। आज से मैंने इसको आपके आगे कर दिया है, आप इसे चरा लाइये। यह बहुत बुरी है, मेरे बहुत 'हटकने' पर भी यह कुमार्ग पर ही चली जाती है। यह दिन-रात वेद-वन में ऊख उखारती हुई फिरा करती है। हे गोकुलपति ! हितकर आप इसे अपने गोधन में मिला लीजिए। मुझे अपना आश्रय दीजिए। स्वीकृति-सूचक आपके वचनों को सुन कर में सुख-पूर्वक सोऊँगा। यह जानकर मैं निधड़क हो जाऊंगा कि मुझको फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ेगा—मगर प्रभु, पहिले मेरी मोह-ममता वाली रुचि को 'निवेरि' लीजिए।

अज्ञान और अविद्या के समान सूरदास ने तृष्णा को भी माया कहकर पुकारा है। तृष्णा के रूपमें माया बहुत बलवती और प्रभाव-शालिनी है। अपने निम्नलिखित पद में सूरदास ने जीव की इस बलवती और प्रभावशालिनी तृष्णा का वर्णन गाय का रूपक बाँध कर किया है—

माधौ नैंकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-बासर अपथ, पथ, अगह गहि नहिँ जाइ ॥

छुधित अति न अघाति कबहूँ, निगम-द्रुम दलि खाइ।
अष्ट-दस-घट नीर अँचवति, तृषा तउ न बुझाइ॥
छहौं रस जौ धरौं आगैं, तउ न गन्ध सुहाइ।
और अहित अभच्छ भच्छति, कला वरनि न जाइ॥
व्योम, धर, नद, सैल, कानन इते चरि न अघाइ।
नील खुर अरु अरुन लोचन, सेत सींग सुहाइ॥
भुवन चौदह खुरनि खूँदति, सु धौं कहाँ समाइ।
ढीठ, निठुर, न डरति काहूँ, त्रिगुन ह्वै समुहाइ॥
हरै खल—बल दनुज—मानव—सुरनि सीस चढ़ाइ।
रचि-विरचि मुख-भौंह-छवि, लै चलति चित्त चुराइ॥
नारदादि सुकादि मुनिजन थके करत उपाइ।
ताहि कहु कैसैं कृपानिधि, सकत सूर चराइ ?॥ ५६॥

—'सूरसागर' प्रथम स्कंध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

अपने इन पदों में सूरदास ने सांसारिक आशा और कुमति को भी माया कहकर ही पुकारा है—क्योंकि जीव इनके वशीभूत होकर दया, शील, सन्तोष, धर्म, सत्य, विवेक आदि सभी कुछ खो देता है और कपट, लोभ, तृष्णा आदि दुर्गुणों में लिप्त हो जाता है। उनकी दृष्टि में पाँचों इन्द्रियों की वाधा भी माया ही है—क्योंकि इन्हीं इन्द्रियों की सहायता से माया जीव को हरि-विमुख कर सांसारिक झूठे सुखों में लीन कर देती है। इसलिये वह वार-वार भगवान से यही प्रार्थना करते हैं—प्रभु ! मुझ पर कृपा कीजिए और माया के इस अनिष्टकारी रूप से मेरी रक्षा कर मुझे जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त कर दीजिए।

माया के इस अनिष्टकारी रूप का वर्णन सूरदास ने बहुत विस्तार के साथ किया है। 'सूरसागर' के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध को छोड़कर बाकी सभी स्कन्धों में न्यूनाधिक रूप में माया के इसी रूप का वर्णन है। उनके विनय के पदों में तो उसके इस रूप की विग-

ईर्णा सर्वाधिक रूप में हुई दृष्टिगोचर होती है। और इसका मुख्य कारण हमें यही ज्ञात होता है—क्योंकि यह सूरदास की भक्ति का प्रारम्भ था—इसीलिये संसार से विमुख और भगवान की ओर उन्मुख होने में उन्हें माया के इस रूप से निश्चय ही कड़ा मुकाबला करना पड़ा होगा। वास्तव में, सांसारिक मोह-माया-जाल में से निकलना एक दुष्कर कार्य है। जब कोई जीव भगवान की ओर अग्रसर होता है तो माया अपने सभी साधनों की सहायता से, प्रभु की ओर प्रेरित उस जीव पर, सभी रूपों में आक्रमण करती है—और जीव एक विषम परिस्थिति में फँस जाता है। तब प्रभु की कृपा ही उस विषम परिस्थिति से उसका उद्धार करती है। वास्तव में, सूरदास ने अपने इन पदों में अपने इन्हीं भावों को व्यक्त किया है।

मगर 'सूरसागर' के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में उन्होंने माया के दूसरे स्वरूप का चित्र खींचा है, जिसमें उसका अनुग्रहकारी रूप चित्रित हुआ है। इस स्कन्ध में राधा ही माया का दूसरा स्वरूप है। हम पहिले ही कह आये हैं, माया के इस दूसरे स्वरूप को महाप्रभु ने भी माना है; मगर उसे राधा के रूप में प्रकट करना यह सूरदास की मौलिकता है। उन्होंने राधा को वही मान्यता प्रदान की है, जो दर्शन-शास्त्रों में शक्ति, श्री और सीता को मिली है। कृष्ण पुरुष हैं और राधा प्रकृति—निम्नलिखित पदों में यही भाव निहित है—

(१)

ब्रजहिँ बसैँ आपुहिँ बिसरायौ।
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु, बातनि भेद करायौ॥
जल थल जहाँ रहौँ तुम बिन नहिँ वेद उपनिषद गायौ।
द्वै-तन-जीव-एक हम दोऊ, सुख-कारन उपजायौ॥
ब्रह्म-रूप द्वितिया नहिँ कोऊ तब मन तिया जनायौ।
सूर स्याम-मुख देखि अलप हँसि, आनँद-पुज बढ़ायौ॥१६८७॥

——'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

(२)

तब नागरि मन हरष भई।
नेह पुरातन जानि स्याम कौ, अति आनंद-भई ॥
प्रकृति पुरुष, नारी मैं वै पति, काहैं भूलि गई।
को माता, को पिता, बंधु को, यह तो भेंट नई ॥
जन्म-जन्म, जुग-जुग यह लीला, प्यारी जानि लई।
सूरदास प्रभु की यह महिमा, यातैं बिवस भई ॥१६८८॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

पुरुष शङ्कर के साथ प्रकृति शक्ति है, पुरुष विष्णु के साथ प्रकृति श्री और पुरुष राम के साथ प्रकृति सीता—सूरदास की दृष्टि में इसी प्रकार पुरुष कृष्ण के साथ प्रकृति रूप में राधा है। और उनकी सम्मति में यह राधा शेष, महेष, लोकेश आदि की स्वामिनी है—

नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनी, जनु घन दमकति दामिनि।
सेस, महेस, गनेस, सुकादिक, नारदादि की स्वामिनि ॥१०५५॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

वास्तव में, सीता के प्रति जो तुलसीदास की भावना है, राधा के प्रति वही भावना सूरदास की है। तुलसीदास ने सीता को क्लेश-हारिणी, सर्व श्रेयस्करी कर माना है तो सूरदास ने राधा को अशरन-शरनी, भव-भय-हरनी, अगतिन की गति कहकर पुकारा है। सीता अगर राम की प्रिया है तो राधा जग-नायक जगदीश की पियारी है। दोनों ही जगत-जननी और शेष, महेश और शुकादिक की स्वामिनी हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में राधा के प्रति सूरदास की यही भावना व्यक्त हुई है—

....रमा, उमा अरु सची अरुधंती, दिन प्रति देखन आवैं।
निरखि कुसुमगन बरपत सुरगन, प्रेम मुदित जस गावैं ॥

रूप-रासि, सुख रासि राधिके, सील महा गुन-रासी।
कृष्न-चरन ते पावहिँ स्यामा, जे तुव चरन उपासी॥
जग-नायक, जगदीस-पियारी, जगत-जननि जगरानी।
नित विहार गोपाललाल-सँग, वृन्दावन रजधानी॥
अगतिन की गति, भक्तनि की पति राधा मंगलदानी।
असरन-सरनी, भव-भय हरनी, वेद पुरान वखानी॥ ··
॥१०५५॥

— सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

उपर्युक्त उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि राधा ही माया का वह दूसरा स्वरूप है, जिसे वल्लभाचार्य ने अपनी दर्शन-पद्धति में माया का साहाय्य अथवा अनुग्रहकारी रूप माना है। मगर जैसाकि हम पहले ही कह आये हैं, उन्होंने माया के इस रूप को राधा का नाम नहीं दिया है; वल्कि उसे दूसरा रूप ही कहकर पुकारा है—लेकिन राधा को माया के इस रूप में चित्रित करना यह सूरदास की मौलिकता है। वाद में विट्ठलनाथजी ने जरूर अपनी दार्शनिक व्याख्या में राधा को ब्रह्म की आह्लादिनी चिन्शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। जान पड़ता है, गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सूरदास के इन विचारों से प्रभावित होकर ही ऐसा किया है।

उपर्युक्त पद्यांश से यह स्पष्ट है कि मायो स्वरूपा यह राधा सर्वाङ्गपूर्ण है। वह 'अगतिनि की गति; और 'मङ्गलदानी' है—इसीलिए सूरदास का विश्वास है—जो जीव श्रीराधा के चरणों की उपासना करता है; अन्त में वह निश्चय ही भगवान् कृष्ण के चरणों को भी प्राप्त करता है—'कृष्ण-चरन ते पावहिँ स्याम जे तुव चरन उपासी।' क्योंकि प्रकृति-स्वरूपा राधा परब्रह्म श्रीकृष्ण की शक्ति है। इसीलिए सूरदास अनेक स्थलों पर श्रीराधा से कृष्ण-भक्ति की याचना करते हुये कहते हैं—

····रसना एक नहीं सत कोटिक, सोभा अमित अपार।

वर्ष, युग, चतुर्युगी आदि की गणना काल के अन्तर्गत् ही की है। और काल-व्याल को दिन, रात आदि का नाम देकर भी पुकारा है—जैसे काल-रात्रि, कलिकाल-व्याल। और इसका अर्थ हम केवल इतना ही समझते हैं कि ऐसा उन्होंने काल की विशेष कुटिलता का परिचय देने के लिये ही किया है। यह देखने में आता है कि कभी-कभी इस काल-व्याल का रूप बहुत ही उग्र और भयंकर हो उठता है। उस समय यह जीवों को निस्सहाय बनाकर उन्हें और भी धिक तीव्र-गति से निगलना प्रारम्भ कर देता है। सर्वदा की भाँति नस्सहाय शब्द का अर्थ यहाँ भी केवल इतना ही है—किसी के वच-निकलने के साधनों को नष्ट कर देना। और यह काल-व्याल ऐसा ही करता भी है। पीछे उद्धृत 'कृष्णाश्रयस्तोत्र' की पंक्तियों में कलिकाल के सम्बन्ध में महाप्रभु के यही भाव निहित हैं। और सूरदास द्वारा 'इहिं कलिकाल-व्याल-मुख-ग्रासित सूर सरन उबरै' कहने का अर्थ भी यही है। इस कलिकाल की कुटिलता का वर्णन करते हुये महाप्रभु अपनी इन पंक्तियों में कहते हैं—समस्त देश म्लेच्छों के आक्रमणों से ध्वस्त हो गये हैं। गङ्गादि तीर्थों पर उन पापियों ने अधिकार कर लिया है। इसीलिये उन तीर्थों के अधिष्ठातृ देवता वहाँ से चले गये हैं। ऐसे विपरीत समय में क्या ज्ञान की निष्ठा हो-सकती है—अथवा भक्ति-मार्ग का आचरण ही क्या भली प्रकार से हो-सकता है''''। और नहीं—कभी नहीं कहकर अन्त में वह कहते हैं, ऐसे कुटिल काल में तो भगवान श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही जीव की रक्षा के लिये एक-मात्र साधन है। और यहाँ पर 'सूर सरन उबरै' का अर्थ भी यही है।

मुक्ति—जीव पूर्ण और नित्य सुख चाहता है और पूर्ण और नित्य सुख अपूर्ण और अनित्य वस्तु से नहीं मिल सकता। संसार के समस्त भोग अपूर्ण और अनित्य हैं—इसीलिये जीव को उनसे पूर्ण और नित्य सुख प्राप्त नहीं होता। यही कारण है जो जीव

संसार में सर्वदा अतृप्ति का अनुभव करता रहता है। पूर्ण और नित्य तो केवल एक परमात्मा ही है, जिसके प्राप्त होने पर फिर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। जिसको प्राप्त कर जीव फिर पूर्ण और नित्य सुख का अनुभव करने लगता है। वास्तव में, जब तक जीव को नित्य और पूर्ण परमात्मा प्राप्त नहीं हो-जाता, तब तक वह जीव बराबर आवागमन के चक्कर में चक्कर लगाया करता है—और असंख्य योनियों के अनगिनती दुखों की चपेट में आ-आकर विविध और महाभंयकर क्लेशों से पीड़ित होता रहता है। भगवान से विमुख हुआ वह अनेक संताप सहता रहता है। और क्योंकि जन्म-मरण अथवा आवागमन के ये क्लेश अनंत और असह्य हैं—इसीलिये जीव इनसे मुक्त होने की इच्छा करता है—वह पूर्ण और नित्य सुख चाहता है।

और जीव की इस इच्छा की पूर्त्ति के निमित्त, महाप्रभु वल्लभाचार्य के मतानुसार, सूरदास, गोलोकस्थ श्रीकृष्ण के सामीप्य की प्राप्ति को ही मुक्ति समझते हैं। आचार्य के मतानुसार इस सम्बन्ध में उनका यह भी विश्वास है–जीव जब समस्त विश्व को ब्रह्मात्मक अथवा श्रीकृष्णमय समझकर भगवान के प्रेम में परमानंद का अनुभव करने लगता है, तब वह अपनी शुद्धावस्था में पहुंचता है और भगवान प्रसन्न होकर उसे जीवन-मरणके बन्धन से मुक्त कर देते हैं। इस प्रकार उसे भगवान के अनुग्रह से ही लौकिक और वैदिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनको उपलब्ध करने के लिये जीव को किसी प्रकार की योग्यता प्राप्त कर किसी विशेष प्रकार के यत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। सर्वात्मभाव की शुद्धावस्था में पहुंचा हुआ जीव अनायास ही भगवान के अनुग्रह को प्राप्त करता है और इस प्रकार इहलौकिक और पारलौकिक भय से मुक्त हो जाता है—क्योंकि उसकी सभी प्रकार की वृत्तियाँ उस समय कृष्णोन्मुख हो जाती हैं। फिर जीव अपनी इन्हीं मानवीय दुर्वलताओं अथवा इन्द्रिय-जनित गुणों-अवगुणों के द्वारा भगवान के सामीप्य

को प्राप्त करता है। वह जीवन-मरण के बधंन से मुक्त हो जाता है।

साधन—और इस मुक्ति अथवा श्रीकृष्ण के सामीप्य की प्राप्ति के निमित्त महाप्रभु के मतानुसार सूरदास भी भगवान की प्रेममयी भक्ति को ही सर्वोपरि साधन मानते हैं। महाप्रभु के समान उन्हें भी इसके लिये कर्म, ज्ञान अथवा योग का मार्ग रुचिकर नहीं है—क्योंकि उनका विश्वास है, भक्ति के द्वारा भगवान जितनी जल्दी सन्न होते हैं, उतनी जल्दी कर्म, ज्ञान अथवा योग के द्वारा नहीं। फिर भक्ति में इन सबका समावेश स्वाभाविक रूप से मिलता है—इसलिये भक्ति ही एकमात्र सरल और अमोघ साधन है।

यही कारण है जो 'सूर-साहित्य' को भक्ति का एक विशद् गान कहने में हमें हिचकिचाहट का अनुभव नहीं होता। वैसे 'सूरसागर' में श्रीमद्भागवत की लगभग सभी कथाओं का समावेश हुआ दीख पड़ता है; मगर भगवान श्रीकृष्ण के जन्म और उनकी प्रेम-लीलाओं के प्रसंग को सूरदास ने बहुत विस्तार के साथ लिखा है। श्रीमद्भागवत् के नौ स्कंधों की कथा को जिसमें लगभग दो सौ अध्याय हैं, सूरदास ने पाँच सौ से भी कम पदों में समाप्त कर दिया है; मगर इसके विपरीत भागवत् के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के ४९ अध्यायों के लिये सूरदास ने ४१६० पदों की रचना की है। दशम स्कंध-उत्तरार्ध और शेष दो स्कंधों भी कथा को भी सूरदास ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप में लिखा है। यही कारण है जो समूचा 'सूरसागर' गोपी-कृष्ण-रस से उद्वेलित हुआ-सा दृष्टिगोचर होता है।

और उसका मुख्य कारण केवल यही है—सूरदास श्रीकृष्ण के सामीप्य को प्राप्त करने के निमित भक्ति को ही सर्वोपरि साधन समझते हैं—इसीलिये उनका मन भगवान की प्रेममयी भक्ति के प्रसंग के अतिरिक्त अन्य किसी भी कथा-वार्ता में नहीं रमता। वैसे 'सूरसागर' में भक्ति के सभी प्रकारों का विवेचन हुआ है;

मगर कान्तासक्ति का वर्णन उसमें मुख्य रूप से हुआ दीख पड़ता है। इस सम्बन्ध में महाप्रभु का कथन है—गोपियों को अपना आदर्श मानकर भगवान के भक्त को अपना समर्पण-निरत जीवन विताना चाहिये—और कान्तासक्ति के वर्णन में सूरदास ने महाप्रभु की इसी दर्शन-वाणी को सँजोया है। यही कारण है जो सूरदास का मन उद्धव के ज्ञान की वार्ता में न उलझने के बराबर उलझा है। ज्ञान का अपरिमित खजाना लेकर उद्धव गोपियों के समीप पहुचते हैं; मगर 'सूरसागर' की गोपियाँ जैसे उनकी बात सुनना ही नहीं चाहतीं। वह प्रेम-रस में पगी अपनी बातों की उन पर झड़ी-सी लगा देती हैं—और बेचारे उद्धव का ज्ञान सिर धुनकर आहें भरता है। भला प्रेमी-भक्त सूरदास को ज्ञान-चर्चा किस प्रकार भा सकती थी—और उन्हें अच्छी लगी भी नहीं। फिर प्रेम-पीड़ित गोपियों के मुख से जो-कुछ भी सूरदास ने कहलवाया, गोपियों के उस कथन में, उनकी भक्ति की उत्कटता और तीव्रता के स्पष्ट रूप से दर्शन होते हैं।

'सूरसागर' में, गोपियों की इस परमविरहासक्ति के अनगिनती चित्र चित्रित हुये हैं। वास्तव में, भगवान का प्रेमी भक्त प्रेम की इसी अवस्था में पहुंचकर, अपने प्रिय भगवान के सामीप्य को प्राप्त करता है। इसीलिये सूरदास ने वियोग की एकादश अवस्थाओं के विह्वलताकारी सर्वाङ्ग-पूर्ण चित्र अङ्कित किये हैं; मगर क्योंकि इस वियोग का संयोग ही आधार है, इसलिये संयोग की भावना के मनमोहक गीत भी 'सूरसागर' में प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। यही कारण है जो 'सूरसागर' में गुण माहात्म्यासक्ति से लेकर परमविरहासक्ति तक के सभी भाव अपने चरम उत्कर्ष के साथ लिपि-बद्ध हुये दीख पड़ते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूरदास की दृष्टि में ज्ञान, कर्म और योग-मार्ग के स्थान पर भक्ति का मार्ग ही एक-मात्र विश्वसनीय मार्ग है, जिसके द्वारा जीव भगवान के सामीप्य को प्राप्त

कर सकता है। जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, इस क्षेत्र में सूरदास ऐसे समय में अवतीर्ण हुये जब योगियों के 'कष्ट कृच्छ साधना' वाले मार्ग के प्रतिकूल भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता स्थापित हो चुकी थी। और इसका एकमात्र मुख्य कारण था—इस मार्ग का सहज और सुलभ रूप। वास्तव में, आचार्य वल्लभाचार्य ने विष्णु स्वामी वाली जिस उपासना पद्धति को पुनर्जीवन दिया, उसमें किसी भी प्रकार के कठोर संयम की आवश्यकता उन्होंने नहीं बतलाई—उसमें केवल उन्होंने मनुष्य शरीर-धारी जीव की वासनाओं को ईश्वरोन्मुख करने का ही प्रयत्न किया—जिससे आचार्य की यह पद्धति स्वाभाविक होने के नाते सभी को बहुत हृदयग्राही जान पड़ी—और शीघ्र ही देश में चारों ओर फैल गई। जन्म-जात भक्त सूरदास को भी यह अच्छी लगी, इसलिये उन्होंने भी इसे अपना लिया और इसकी श्रेष्ठता 'को अपने प्रत्येक प्रयत्न में व्यक्त किया।

और यही सूरदास की प्रेममयी भक्ति है, जिसके सम्बन्ध में इस पुस्तक के तृतीय अध्याय में हम विस्तृत रूप से लिख आये हैं। वास्तव में, सूरदास भक्तिरसनिष्णात कवि थे और पुष्टि मार्ग नामक भक्ति-पथ के आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनुयायी! यह सत्य है कि उन्होंने अपने पदों में पुष्टि, मर्यादा आदि आचार्य द्वारा मुख्य रूप से प्रयुक्त हुये शब्दों का कहीं नाम तक भी नहीं लिया है; मगर उनके साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति-सम्बन्धी उनके विचार महाप्रभु के भक्ति-से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर पूर्ण रूप से आधारित हैं।

———

......और उनका साहित्य

[काव्य-समीक्षा]

५

मुख्य कथा-वस्तु

'सूरसागर' सूरदास कृत एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अपने इस ग्रन्थ में वर्णित विषय के सम्बन्ध में बतलाते हुये सूरदास लिखते हैं—

श्रीमुख चारि स्लोक दए ब्रह्मा को समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ ॥२२५॥

—'सूरसागर' प्रथम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

श्रीमुख अर्थात् भगवान ने ब्रह्मा को चार श्लोक दिये। ब्रह्मा ने वही चार श्लोक नारद को बतलाये और नारद ने व्यास को! महर्षि व्यास ने उन चार श्लोक की सहायता से बारह स्कन्धों वाली श्रीमद्भागवत की रचना कर उसे अपने पुत्र शुकदेव को सुनाया। मैं उसी श्रीमद्भागवत की कथा को भाषा-पद-बद्ध कर गाता हूं।

मोटे रूप में इस पद का अर्थ है—'सूरसागर' में वही है, जो श्रीमद्भागवत में है। मगर ऐसा है भी और नहीं भी है। है इसलिये—क्योंकि सिद्धान्त रूप से 'सूरसागर' में वही है, जो श्रीमद्भागवत में है। और नहीं इसलिये—क्योंकि 'सूरसागर'

श्रीमद्भागवत का अनुवाद नहीं है। इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में हम कह आये हैं—भागवत में वर्णित कथाओं को 'सूरसागर' में सूरदास ने अपने ढङ्ग पर लिपिबद्ध किया है। इसीलिए किसी कथा को उन्होंने विस्तार के साथ दिया है, किसी को सूक्ष्म रूप में और अन्य कई कथाओं को उन्होंने छोड़ ही दिया है। मुख्य कथा—श्रीकृष्ण-चरित्र को भी सूरदास ने अपने ढङ्ग पर व्यक्त किया है। इसलिए 'सूरसागर' को भागवत का अनुवाद नहीं कहा जा सकता-तो इस सम्बन्ध में सत्य केवल इतना ही है कि वह सिद्धान्त रूप से भागवत पर आधारित है; मगर अधिकाँश में वह सूरदास की मौलिक रचना है।

भागवत की कितनी ही कथाओं को छोड़ देने पर भी 'सूरसागर' में अनेक कथाएँ हैं; मगर भागवत के समान उसमें भी मुख्य कथा श्रीकृष्ण-चरित्र ही है। यह हम पहिले कह ही आये हैं—कृष्ण सूरदास के विचार में परब्रह्म हैं, जो अपने भक्तों पर अनुग्रह और दुष्टों का दमन करने के निमित्त नर-देह में अवतीर्ण हुये हैं। और उनका यह विचार भागवत के अनुसार है। अपने इस भाव-पूर्ण विचार को सूरदास ने कृष्ण-चरित्र के आरम्भ में ही व्यक्त किया है—

हरि-हरि हरि-हरि सुमिरन करौ। हरि-चरनारविंद उर धरौ।
जय अरु विजय पारपद दोइ। विप्र-सराप असुर भए सोई।
दोउ जन्म ज्यौँ हरि उद्धारे। सो तौ मैं तुमसौँ उच्चारे।
दन्तवक्र सिसुपाल जो भए। वासुदेव ह्वै सो पुनि हए।
औरौ लीला बहु विस्तार! कीन्हौ जीवनि कौ निस्तार।
सो अब तुमसौँ सकल बखानौ। प्रेम सहित सुनि हिरदै आनौ।
॥ २ ॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

वास्तव में, सूरदास की दृष्टि में कृष्णावतार के दो उद्देश्य हैं—प्रथम दुष्टों का संहार कर जीवों का उद्धार करना तथा द्वितीय

व्रज में रसमय और आनन्दप्रद लीलाएँ करना। और कृष्णावतार के इन दोनों उद्देश्यों को सूरदास ने कथा के प्रारम्भ में ही गिना दिया है। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के द्वितीय और तृतीय पदों में। नियमानुसार इस स्कन्ध का भी प्रथम पद मङ्गलाचरण के रूप में ही है। इस प्रकार प्रारम्भ में ही कृष्णावतार के दोनों उद्देश्यों का उल्लेख कर सूरदास आगे के पद में मथुरा नगरी में देवकी और वसुदेव के विवाह के बीच घटने वाली घटना तथा बन्दीगृह में देवकी के गर्भ से कृष्ण का जन्म लेकर गोकुल में प्रकट होने तक का संक्षिप्त मगर क्रम-बद्ध विवरण उपस्थित करते हैं। इससे आगे के सैंतीस पदों में उन्होंने कृष्ण-जन्म की प्रसन्नता, जो समूचे गोकुल में व्याप्त है, का बहुत ही सुन्दर और मनहरण वर्णन किया है। और गोकुल के इस हर्षोन्मेष का केन्द्र नन्द महर का निवास-स्थान है—क्योंकि उनके बुढ़ापे में कृष्ण-जैसा पुत्र उत्पन्न हुआ है। नन्द कीपत्नि यशोदा की खुशी का भी वारापार नहीं है। गोकुल की नरनारियों के साथ गोकुल की भूमि और प्रकृति भी फूली नहीं समा रही है। कामदेव और रति भी नहीं। इस प्रकार प्रसन्नता-सूचक इन पदों में सूरदास ने कृष्ण-जन्म की खुशी में समस्त चराचर प्रकृति को सम्मिलित कर उस खुशी की व्यापकता को तो प्रकट किया ही है साथ ही कृष्णावतार के उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों की महत्ता को व्यंजित करने का भी सफल प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कृष्ण के प्रति सबके प्रारम्भिक आकर्षण की बात को भी बड़े ही सहज भाव से कह दिया है।

इसी खुशी और सुख-लीलाओं की भूमिका के बीच वह कृष्ण के चरित्र को प्रारम्भ करते हैं। 'सूरसागर' में कृष्ण का चरित्र वास्तव में उनकी अलौकिक और अति मानवीय लीलाओं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और उनकी इन लीलाओं के तीन मुख्य केन्द्र स्थान हैं—व्रज, मथुरा और द्वारका! व्रज की

लीलाओं में कृष्ण की सर्वप्रथम लीला पूतना-वध की है। मथुरा के राजा कंस को आकाश-वाणी की वात पर गहरा विश्वास है—वह इस वात को भली प्रकार से समझ चुका है कि उसका मारने वाला गोकुल में उत्पन्न हो गया है—और वह है, नन्द महर का पुत्र! इसलिये उसे रात-दिन चैन नहीं पड़ता है और वह नन्द के पुत्र को मार डालने के लिये राक्षसी पूतना को गोकुल में भेजता है। लेकिन,

""वदन निहारि प्रान हरि लीनौ, परी राच्छसी जोजन ताईं।
सूरज दै जननी-गति ताकौं, कृपा करी निज धाम पठाई ॥५०॥

—'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

नन्हे-से वालक 'कन्हाई' ने उस राक्षसी को कृपा करके 'अपने धाम' को भेज दिया।

इस प्रकार शिशु-रूप ब्रह्म का यह लीला-कौतुक और आगे बढ़ता है, वह विविध रूप वाले अनेक राक्षसों का संहार कर पृथ्वी का भार उतारते और जीवों का उद्धार करते हैं। और वे लीलाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं—श्रीधर-अङ्ग भंग, कागासुर-वध, सकटासुर-वध, तृणावर्त-वध—और इसी बीच कृष्ण एक वर्ष के हो जाते हैं। उनकी वर्ष-गाँठ वहुत प्रसन्नतापूर्वक मनाई जाती है। यशोदा खुश है, नन्द और गोकुल के सभी स्त्री-पुरुष भी! अव कृष्ण घुटुरवों चलना सीख गए हैं—वह नन्द के आँगन में घुटुनों के वल चलकर खेलते हैं तो यशोदा यह देख-देख कर वहुत सुख पाती हैं। कुछ ही दिनों के पश्चात् वह उन्हें खड़ा होना सिखाने लगती है। कान्हा लड़खड़ाते हैं और गिर पड़ते हैं—तो वह घुटुनों के वल आगे वढ़ जाते हैं—इस प्रकार सूरदास ने शिशु-रूप ब्रह्म की वाल—क्रीड़ाओं के अनेक चित्र अङ्कित किये हैं, जो माननीय हैं। पाँवों चलना, चन्द्र-प्रस्ताव, कलेवा, क्रीड़न, पाँड़े आगमन, शालिग्राम-प्रसंग, प्रथम-माखन चोरी और उलूखन-बंधन—ये शिशु-रूप ब्रह्म

कृष्ण की अनेक मानवीय लीलाएँ हैं—जिनमें उनका अति मानवीय रूप प्रगट होता है।

उलूखन-बन्धन की कथा को सूरदास ने कुछ विस्तार के साथ लिखा है। कृष्ण ने माखन की चोरी की है—इस बात से यशोदा को कृष्ण पर बहुत क्रोध है। इसलिये दण्ड-स्वरूप उसने बालक कृष्ण को ऊखल से बाँध दिया है। व्रज की स्त्रियाँ यशोदा को समझाती हैं; मगर यशोदा का क्रोध यह सोच-सोचकर 'घर घर डोलत माखन चोरत, पट-रस मेरैं धाम।' बढ़ता ही जाता है और वह किसी की बात को नहीं सुनती है। मगर कृष्ण के बड़े भाई हलधर कृष्ण को ऊखल से बंधा हुआ देखकर उनके ब्रह्मत्व का विचार कर मुस्कराते हैं। सोचते हैं—'को बाँधैं, को छोरैं इनकौं, यह महिमा येई पैं जाने।' और वास्तव में, कृष्ण की यह महिमा इस मानवीय लीला का रूप ही बदल देती है। जिस कारण उन्होंने अपने दोनों हाथ ऊखल से बँधवाये हैं—सूरदास उस कारण का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

तबहिँ स्याम इक बुद्धि उपाई।
जुवती गँई घरनि सब अपनैं, गृह-कारज जननी अटकाई॥
आपु गए जमलार्जुन-तरु-तर, परसत पात उठे झहराई।
दिए गिराइ धरनि दोऊ तरु सुत कुबेर के प्रगटे आई॥
दोउ कर जोरि करत दोइ अस्तुति, चारि भुजा तिन्ह प्रगट दिखाई
सूर धन्य व्रज जनम लियौ हरि, धरनी की आपदा नसाई॥३८३॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध, पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

और इस प्रकार यमलार्जुन के उद्धार के पश्चात् इस लीला का अन्त होता है।

कृष्ण अब पाँच वर्ष के हैं। एक दिन नन्द और यशोदा ने सोचा—गोकुल में दिन-प्रतिदिन नये नये उपद्रव होते हैं—इसलिये वृन्दावन में जाकर बसाजाए-और महर नन्द की इस बात को सभी

गोकुल-वासियों ने मान लिया। और सबने अपने-अपने 'सकटा' सजाये और यमुना तट पर वृन्दावन में जा-बसे।

इसके पश्चात् सूरदास ने कृष्ण की गोचारण लीला का वर्णन किया है। सखाओं के साथ कृष्ण वन में गौं चराने के लिये जाते हैं। अब वह वाँसुरी भी वजाने लगे हैं और वाँसुरी की सहायता से ही दूरस्थ गौं और सखाओं को पास बुला लेते हैं। उनकी वाँसुरी की ध्वनि वहुत मधुर है। सखा उन्हें वहुत प्यारे लगते हैं और गौयें भी! इसलिये अब उनकी सभी लीलाएँ सखाओं को साथ में लेकर होती हैं। अलौकिक और मानवीय दोनों प्रकार की लीलाओं के वीच सखा उनके सर्वदा विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक वात में वे उनके वरावर के साथी हैं।

वृन्दावन में पहुंच कर सबसे पहिले वह वकासुर-वध की लीला करते हैं। इसके पश्चात उनकी अन्य अलौकिक लीलाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं—अघासुर-वध, ब्रह्मा-बालक-वत्स-हरण, धेनुक वध, काली-दह-जल-पान, काली-दमन लीला, दावानल-पान- लीला, प्रलं ववध, गोवर्धन-धारण, वरुण से नन्द को छुड़ाना, शंखचूड़-वध, वृषभासुर-वध, व्योमासुर-वध।

वृन्दावन ही उनकी गुप्त-प्रेम की लीलाओं का केन्द्र हैं। इस प्रकार की ये लीलाएँ अनेक हैं—मगर मुख्य उनमें से क्रमशः ये कही जा सकती हैं—श्रीराधा-कृष्ण-मिलाप, चीर-हरन, श्रीकृष्ण-विवाह, रास-नृत्य तथा जल क्रीड़ा, वृन्दावन-विहार, श्रीकृष्ण-ज्योनार, पनघट-लीला, दानलीला, ग्रीष्मलीला, मान लीला, दंपति विहार, झूलन और वसंत लीला।

कृष्ण की उपर्युक्त सभी लीलाओं का सूरदास ने ऐसा विशद वर्णन किया है कि उनका सम्पूर्ण चरित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख सजीव-सा हो-उठता है। कृष्ण की ये सभी लीलाएँ वास्तव में तीन प्रकार की हैं। इनमें से पहिले प्रकार की वे लीलाएँ हैं, जो उनके संस्कार से सम्बन्ध रखती हैं-जैसे नालछेदन, छटी, नामकरण

आदि ! दूसरे प्रकार की लीलाओं में उनका बाल-सुलभ चरित्र विकसित हुआ है और तीसरे प्रकार की लीलाओं में उनके प्रेम-सम्बन्धी आनन्दानुभव का चित्रण है। दूसरे प्रकार की लीलाओं—चन्द्रप्रस्ताव, ऊखल-बन्धन, माखन चोरी, गेंद तड़ी आदि को देखकर कृष्ण के प्रति वात्सल्य और सख्य के भाव जाग्रत होते हैं और तीसरे प्रकार की उनकी लीलाओं को देखकर उनके प्रति माधुर्य-भाव का उदय होता है। और यह माधुर्य-भाव की भक्ति ही भक्त का सर्वस्व है। इसीलिये तीनों प्रकार की मानव-स्वभाव-सुलभ लीलाओं में श्रीकृष्ण का ब्रह्मत्व पग-पग पर व्यंजित हुआ है। मगर उनके ब्रह्मत्व से नन्द, यशोदा, उनके सखा और गोपियाँ-इस प्रकार सब अनभिज्ञ ही बने रहते हैं। उनके सखाओं के मनमें कभी-कभी अपने सखा कृष्ण के ऐसे विस्मयकारी चरित्रों को देखकर ज़रूर अपने सखा के प्रति आदर का भाव उदय होता है. मगर कृष्ण उन्हें भुलावे मेंडालकर उनके मन के इस भाव कोदूर कर देते हैं।

कृष्ण की इन माधुर्य-भाव की लीलाओं के बीच एक और चरित्र विकसित हुआ है और वह है वृषभानु-कुमारी राधा,का! कृष्ण पुरुष हैं और राधा प्रकृति है—इस भेद को कृष्ण राधापर प्रथम-मिलन के अवसर पर ही प्रकट कर देते है। राधा इस भेद को जानकर बहुत प्रसन्न होती है। इसीलिये राधा-कृष्ण प्रेम-वर्णन का चित्र गोपी-कृष्ण-प्रेम-लीलाओं के साथ में चित्रित होते हुये भी बिल्कुल अलग ही अपना अस्तित्व रखता है।

वसंत लीला ब्रज केन्द्र की अन्तिम लीला है। अब कृष्ण दस वर्ष के हो-चुके हैं। मथुराधिपति कस ने कृष्ण को मृत्यू का ग्रास बना देने के लिये अब तक जिस को भी भेजा है, कृष्ण ने लीला-क़ौतुक में ही उसे अपने धाम को भेज दिया है। इस बात का कंस को बहुत आश्चर्य है और क्रोध भी ! वास्तव में, वह कृष्ण को मार-डालने के लिये रात-दिन चिन्तित है—और कृष्ण भी उसे अब अधिक दिनों तक जीवित रखकर पृथ्वी, मुनि और देवताओं के दुख की

अवधि को लम्बा नहीं करना चाहते । इसलिये 'अब मारौ प्रभु कंस प्रचारी' नारद मुनि की इस प्रार्थना को सुनकर 'दैत्य-दहन' और 'सुरनि के सुखकारी' प्रभु कृष्ण हँसे और बोले—

...श्रीमुख कह्यौ जाइ समझावहु । नृप आयसु करि मोहिं बुलावहु ॥
॥ २९२२॥

'सूरसागर'—दशम स्कंध (पहिला खड) का० ना० प्र० सभा ।

प्रभु की इस आज्ञा को सुनकर नारद का मन हर्ष से कमल के फूल के समान खिल उठा । उन्होंने तुरन्त ही भगवान की आज्ञा का पालन किया । और कंस के समीप पहुंचकर वह बोले—

...नारद कह्यौ सुनौ हो राव । कह बैठे कछु करहु उपाव ॥
त्रिभुवन में तुम सरि को ऐसौ । देख्यौ नन्द-सुवन ब्रज जैसौ ॥
करत कहा रजधानी ऐसी । यह तुमकौं उपजी कहौ कैसी ॥
दिन दिन भयौ प्रबल वह भारी । हम सब हित की कहैं तुम्हारी॥
॥ २९२२ ॥

और नारद की इस वाणी को सुनकर कंस का गर्व झनझना उठा । उत्तर में वह कहने लगा—

...कितिक बात बलराम कन्हाई । मो देखत अति काल डराई ॥
आजु काल्हि अब उनहिं बुलाऊँ । कहि पठवौं ब्रज सहित मँगाऊँ ॥
और प्रजा ब्रज आनि बसाऊँ । अपने जिय की खुटक मिटाऊँ ॥
तिन पर क्रोध-कहा मैं पाऊँ । रङ्गभूमि गज चरन रुँदाऊँ ॥....

और कंस की इस गर्व-भरी वाणी को सुनकर नारद का मन पुलकित हो उठा । 'सत्य वचन नृप कहत पुकारे । अब जाने उन तौ तुम मारे ।' कहकर वह वैकुण्ठ को चले गये । और 'अपने जिय की खुटक' मिटाने के लिये कंस ने अक्रूर को बुला भेजा । बहुत तरह से अक्रूर को समझा-बुझाकर किसी भी प्रकार से कृष्ण और बलराम को मथुरा ले आने के लिये उन्हें ब्रज जाने की आज्ञा दी ।

कंस की आज्ञा से अक्रूर व्रज में आये। प्रभु कृष्ण-बलराम के दर्शन कर वह कृत-कृत्य हो गए। सुफलक सारथि ने भी स्वयं को धन्य माना। कंस के दूत अक्रूर के आगमन का व्रज में शोर पड़ गया। सभी अक्रूर को देखने के लिये दौड़ पड़े। मगर अक्रूर के मुख से राजाज्ञा को सुन कर सभी को दुख हुआ। कृष्ण सभी को प्राणों से भी अधिक प्यारे थे। साथ ही कंस के स्वभाव को वे सभी भली प्रकार से जानते थे। कृष्ण का विछोह वे नहीं सहन कर सकते थे। मगर इस राजाज्ञा को सुन कर कृष्ण और बलराम खुश थे।

दूसरे दिन प्रातः दोनों भाई अक्रूर के साथ रथ में बैठकर मथुरा की ओर चले। 'अपने सरबस स्याम' को जाते देखकर समूचा व्रज कराह उठा। और इससे आगे वियोगी व्रजके सूरदास ने अनेकों चित्र अङ्कित किये हैं।

कृष्ण और बलराम मथुरा पहुँचते हैं और मथुरा-केन्द्र की उन की लीलाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। रजक-वध से उन लीलाओं का प्रारम्भ है-और इससे आगे की लीलाएँ इस प्रकार हैं—धनुष-भंग, कुवलया-वध, हस्ती-वध, मल्ल-वध कंस-वध! अपनी इन अलौकिक लीलाओं को करने के पश्चात् कृष्ण बहुत ही गम्भीर दीख-पड़ने लगते हैं। मथुराका राज्य वह स्वयँ ग्रहण नहीं करते और न अपने पिता अथवा सम्बन्धी को ही देते हैं। उनकी कृपा से उग्रसेन मथुरा के राजा बनते हैं। कृष्ण और बलराम के दर्शन कर मथुरा के स्त्री-पुरुष बहुत खुश हैं। वे उनकी बड़ाई करते अघाते नहीं हैं।

यज्ञोपवीत-उत्सव उनकी एक संस्कार-लीला है, जो उन्होंने मथुरा नगरी में प्रगट की। कुब्जा भगवान की पुरानी दासी थी—उसका दुख उन्होंने क्षण-भर में ही दूर कर उसे सुन्दरता की राशि बख्श दी। नन्द को समझा-बुझा और यह कह कर उन्होंने विदा किया—

....मैं आयौ संसार मैं, भुव-भार उतारन।
तिनकौ तुम धनि धन्य हौ, कीन्हौ प्रतिपारन॥
मातु पिता मेरैं नहीं, तुमतैं अरु कोऊ।
एक बेर ब्रज लोग कौं, मिलिहौं सुनौं सोऊ॥....
॥३११४॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

और नन्द हताश, नेत्रों में जल भरे ब्रज में लौट आये। नन्द के वचन सुनकर ब्रज-वासियों की अंतिम आशा भी निष्फल होगई। और पुनर्मिलन की वांच्छा का रुदन आगे बढ़ा। 'सूरसागर' में ये ही वे पद हैं, जिनमें संसार भर की व्याकुलता सिमट कर इकट्ठी हो गई है। इनमें भी भ्रमरगीत नाम से प्रसिद्ध पद सर्वोपरि हैं। प्रेम के दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग ! 'सूरसागर' में सूरदास ने दोनों ही पक्षों को चित्रित करने में कुछ उठा नहीं रक्खा है। ब्रज के वियोग के इन चित्रों में माधुर्य-भाव की भक्ति के अन्तर्गत भक्त-वियोगी के वियोग की अन्तिम अवस्था परमविरहासक्ति को अङ्कित करने में सूर सफल मनोरथ हुए हैं। वियोगिनी राधा के चित्र इनमें सर्वोपरि हैं। कृष्ण के सखा उद्धव का ज्ञान, भक्ति के सम्मुख इन पदों में नत-मस्तक हुआ दीख पड़ता है। इस प्रकार अपने इन पदों में ही सूरदास ने ज्ञान-मार्ग की निरर्थकता और भक्ति-मार्ग की उपादेयता को बतलाने का सफल प्रयास किया है। मथुरा-केन्द्र की अक्रूर गृह-गमन लीला भगवान श्रीकृष्ण की भक्त-वत्सलता की सूचक है।

इसी बीच कंस को मार डालने की सूचना जब जरासंध को मिली तो वह एक बड़ी सेना लेकर मथुरा में आया। मगर कृष्ण और बलराम ने उसे हराकर पीछे हटा दिया। इस प्रकार जरा-संध ने मथुरा पर सत्रह आक्रमण किए; मगर वह सत्रह ही बार हारा। अन्त में, जब—

वार सत्तरह जरासंध, मथुरा चढ़ि आयौ।
गयौ सो सब दिन हारि, जात घर बहुत लजायौ॥
तब खिस्याइ कै कालजवन, अपने सँग ल्यायौ।
हरि जू कियौ विचार, सिन्धु तट नगर बसायौ॥
उग्रसेन तब लै कुटुम्ब, ता ठौर सिधायौ।
अमरपुरी तैं अधिक, तहाँ सुख लोगनि पायौ॥
कालजवन मुचुकुंदहिँ सौं, हरि भसम करायौ।
बहुरि आइ भरमाइ अचल रिपु ताहि जरायौ॥
जरासिंधुहू ह्वाँ तैं पुनि, निज देस सिधायौ।
गए द्वारिका स्याम राम, जस सूरज गायौ॥४१६३॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध उत्तरार्ध (द्वितीय खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

इस प्रकार जरासंध को सत्रह वार युद्ध में परास्त करने के पश्चात् भगवान ने कालयवन-दहन लीला की और वह सभी के साथ द्वारिकापुरी में जा-बसे। द्वारिकापुरी भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का तीसरा केन्द्र है। द्वारिकापुरी में निवास करते हुए उन्होंने अनेक अलौकिक और मानव-स्वभाव-सुलभ लीलाएँ कीं, जो इस प्रकार हैं—रुक्मिणी-हरण और विवाह सत्यभामा के साथ विवाह, पंच पटरानी विवाह, भौमासुर-वध तथा कल्पवृक्ष आनयन, रुक्मिणी-परीक्षा नृग राजा-उद्धार, पौंड्रक-वध, सुदक्षिण-वध, द्विविद-वध, नारद-संशय-निवारण, जरासंध-वध, शिशुपाल-वध, शाल्व-वध, दंतवक्र-वध मित्र-सुदामा पर अनुग्रह।

इन लीलाओं के अतिरिक्त सूरदास ने दशम स्कन्ध उत्तरार्ध में ही भगवान की कतिपय अन्य लीलाओं का भी वर्णन किया है, जो द्वारिकापुरी से वाहर की हैं। उपर्युक्त लीलाओं में भी कुछ ऐसी लीलाएँ हैं, जो द्वारिकापुरी के वाहर ही भगवान ने की हैं जैसे रुक्मिणी-हरण आदि। मगर हमने इन सब लीलाओं का केन्द्र द्वारिकापुरी को ही माना है—क्योंकि द्वारिकापुरी भगवान का

वैकुण्ठ-धाम गवन तक स्थायी निवास-स्थान रहा है। 'सूरसागर' में वर्णित अन्य लीलाएँ इस प्रकार हैं—कुरुक्षेत्र में यशोमति, सखा और गोपियों से मिलन, राधा से मिलन, व्रजवासियों को सन्देश, सुभद्रा-अर्जुन के विवाह में योग, जनक और श्रुतदेव पर कृपा, भस्मासुर-वध, भृगु-परीक्षा, अर्जुन को अपने विराट रूप का दर्शन देना। दशम स्कन्ध उत्तरार्ध में ही उनके पुत्र-पौत्रादि के विवाहों में घटित होने वाली घटनाओं की भी कथाएँ हैं, जिनमें उन लीला धारी भगवान की अनेक लीलाएँ व्यञ्जित हुई हैं।

भगवान श्रीकृष्ण का चरित्र इतना ही है, ऐसा नहीं है—उनकी और भी अनेक लीलाएँ हैं। अगर देखा जाय तो सूरदास ने महाभारत के कृष्ण को तो स्पर्श ही नहीं किया है। वास्तव में, योद्धा कृष्ण के चित्र उन्होंने वहुत ही कम खींचे हैं। दो चार चित्र दिये भी हैं तो बहुत ही अधूरे—ऐसे, जिनमें इस दृष्टि से कुछ भी नहीं है। सूरदास द्वारा चित्रित योद्धा कृष्ण के चित्रों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है—जैसे भगवान के ऐसे चरित्र के चित्र को चित्रित करने में उन्होंने मन–मानकर कार्य किया है। उन्हें तो भगवान के दो ही रूप प्यारे लगे हैं—एक उनका अलौकिक अथवा ब्रह्मत्व से ओत–प्रोत रूप और दूसरा मधुर रूप! इसीलिए 'सूरसागर' में कृष्ण का चरित्र भगवान की ऐसी ही लीलाओं को लेकर चित्रित हुआ है, जिन लीलाओं में भक्त सूरदास का मन रम सका है। यही कारण है, जो उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण की ऐसी लीलाओं का वर्णन प्रेम पूरित और छलकते मनसे किया है और उनका वह वर्णन भक्त और साहित्यकारों के लिए एक अमरवस्तु बनकर रह गया है।

प्रबन्ध की दृष्टि से इन लीलाओं को दो प्रकार की कहा जा सकता है—वर्णात्मक और कथनात्मक! अवस्था-विशेष और नित्य कर्मों से सम्बन्ध होने के कारण वर्णात्मक लीलाएँ भी दो प्रकार की हैं। अवस्था,विशेष से सम्बन्धित रखने वाली वर्णात्मक कथाओं में जन्म, नालछेदन, छटी, पालना-झूलना, नामकरण आदि कथाओं

का नाम गिनाया जा सकता है—तथा नित्यकर्मों से सम्बन्धित कथाओं में प्रातः उठना, कलेवा, बालकेलि, गोचारण, आदि कथाएँ आती हैं। कथात्मक कथाओं के भी दो रूप हैं—पहिले प्रकार की कथाएँ वे हैं, जो कृष्ण के अलौकिक चरित्र से सम्बन्धित हैं—जैसे, पूतना-वध, अघासुर-वध, वकासुर-वध, आदि—तथा इस स्तम्भ के अन्तर्गत दूसरे प्रकार की वे लीलाएँ हैं जो कृष्ण की सुख लीलाएँ कही जाती हैं—अथवा जो भगवान् की रस-केलि से सम्बन्ध रखती हैं। जिनमें राधा, गोपी और कृष्ण का प्रेम प्रस्फुटित हुआ है।

इसी प्रकार कथात्मक लीलाओं को भी दो भागों में बाँटा जा-सकता है। इनमें से एक प्रकार की लीलाएँ वे हैं, जिनमें कृष्ण के प्रति रति की व्यञ्जना करना ही सूरदास का लक्ष्य रहा है—इसीलिए वे भावात्मक अधिक हैं, घटनात्मक कम। और क्योंकि उनमें भावों को ही विशेष रूप से स्थान मिला है, इसलिए सूरदास ने एक घटना को ही विशेष भावों से सम्पन्न कर कई-कई पदों में गाया है। कहना चाहिए—एक ही घटना को व्यंजित करने वाले कई पद हैं; मगर भाव सब पदों में अलग-अलग हैं। यही कारण है जो 'सूरसागर' को कतिपय विद्वान् मुक्तक पदों का एक संग्रह समझते हैं। दूसरे प्रकार की कथात्मक वे लीलाएँ हैं, जो छोटी छोटी होने पर भी स्वतन्त्र कथाओं के रूप में दीख पड़ती हैं—और खण्ड काव्यों जैसा रूप बनाए बैठी हैं—मगर वास्तव में ऐसा है नहीं। तो, सत्य तो यह है कि ये सब छोटी कथायें भी उस बड़ी कथा की ही सहचरी हैं।

वास्तव में, 'सूरसागर' में कृष्ण चरित्र का निर्माण सूरदास ने भगवान की इन्हीं लीलाओं को लेकर किया है। और वर्णात्मक कथाओं को कथात्मक लीलाओं के साथ इसप्रकार गूँथा है कि कृष्ण चरित्र का एक सम्यक ढाँचा हमारे नेत्रों के सम्मुख खड़ा हो जाता है—जो अलौकिक है और रसात्मक भी। किसी भी वस्तु की ओर आकर्षित होने के लिए रूप का आकर्षण होना नितान्त आवश्यक

है—इसीलिए कृष्ण चरित्र के इस ढाँचे के वर्णात्मक भाग में रूप वर्णन का अंश बहुतायत से दृष्टिगोचर होता है—मानो, सूर अपने इष्टदेव का रूप-वर्णन करते हुए अघाते ही नहीं हैं और कृष्ण की रूप-राशि का वर्णन वह प्रत्येक सम्भव दशा में करते हैं। उनके प्रभु के घुटनों के बल चलने में भी एक अनोखी सुन्दरता है और मुरली-वादन, रति विहार मान मनुहार में तो वह सुन्दरता और भी अधिक निखर जाती है। इसीलिए चरित्र चित्रण के प्रत्येक भाग में रूप वर्णन के अनगिनती चित्र दृष्टिगोचर होते हैं—जो इस ढाँचे में मणियों के समान जड़े हुए-से जान पड़ते हैं।

———

६
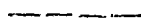
चरित्र-चित्रण

यों तो 'सूरसागर' में अनेक चरित्र हैं; मगर जिनकी गणना मुख्य चरित्रों के रूप में की जा सकती है, वे हैं श्रीकृष्ण, बलराम, यशोदा, नन्द, राधा, गोपी, गोप और उद्धव। गौण चरित्रों के रूप में ये नाम गिनाए जा सकते हैं—यशोदा की सखियाँ, रोहिणी, देवकी, वृषभानुपत्नी, कुब्जा, रुक्मिणी, वसुदेव, अक्रूर सुदामा, कंस तथा पूतना आदि राक्षस! इनके अतिरिक्त अन्य सभी पात्र तृतीय और चतुर्थ श्रेणी के हैं। यहाँ पर हम केवल मुख्य पात्रों का ही परिचय दे रहे हैं-अन्य सभी प्रकार के पात्र हमने छोड़ दिए हैं।

श्रीकृष्ण 'सूरदास' के सर्वोपरि प्रधान नायक हैं। साथ ही वह 'सूरसागर' के कवि सूरदास के इष्टदेव भी हैं। इसीलिए कहा जा सकता है, 'सूरसागर' में जो कुछ भी हैं, वह सब श्रीकृष्ण का है और श्रीकृष्ण के लिये है। वास्तव में, 'सूरसागर' की रचना इसी उद्देश्य को लेकर हुई है। यही कारण है जो 'सूरसागर' का सम्पूर्ण कथानक श्रीकृष्णमय है। यह सत्य है कि 'सूरसागर' के सभी पात्रों का व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप से भी विकसित हुआ है; मगर ये सभी पात्र श्रीकृष्ण पर आश्रित हैं; यह भी सत्य है। 'सूरसागर' का अध्ययन करने पर ऐसा जान पड़ता है—मानो, इस काव्य ग्रंथ के सभी पात्र परब्रह्म श्रीकृष्ण की अनुकम्पा से ही अपना-अपना

भाव-वेश सँवारे हैं, अन्यथा वे जड़ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। कह सकते हैं, भगवान के सगुण रूप के साथ ही स्थूल रूपधारी ब्रह्म के इन अणु और अंशों का अपना अलग व्यक्तित्व है, अन्यथा वे चेतन में ही समाये हुए हैं—तथा, उसकी इच्छा करने पर ही अपना स्थूल रूप धारण करते हैं और उसका स्पर्श पाकर ही सचेतन हो जाते हैं।

(१) श्रीकृष्ण

'सूरसागर' में सूरदास ने इष्टदेव श्रीकृष्ण के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपोंकी वंदना की है। उनकी दृष्टिमें परब्रह्म श्रीकृष्ण आदि सनातन, अविनाशी और घट-घट वासी भी हैं तथा लीला-पुरुष भी! राक्षसों का वध कर जीवों का उद्धार और ब्रज में सुखमय लीलाएँ करने के लिए ही उन्होंने नर-देह धारण की है। इष्टदेव श्रीकृष्ण के स्वभाव की यह विशेषता है कि जो जिस रूप में उन्हें भजता है, वह उसी रूप में उसे प्राप्त होते हैं। यही कारण है जो सूरदास ने अपनी दास्य-रति के अन्तर्गत इष्टदेव श्रीकृष्ण को पतित पावन, करुणामय और भक्तवत्सल स्वामी के रूप में चित्रित किया है।

दास्य-रति के अतिरिक्त 'सूरसागर' में सख्य, वात्सल्य और मधुर-रति के भी विशेष रूप से दर्शन होते हैं। और इन तीन प्रकार की रति भावना के अन्तर्गत् सूरदास के लीलापति इष्टदेव श्रीकृष्ण का चरित्र समस्त 'सूरसागर' में निम्नलिखित रूपों में प्रस्फुटित हुआ है—

(१) अनोखी शोभा से सम्पन्न अबोध शिशु के रूप में!
(२) मनोहर, चंचल और धृष्ट बालक के रूप में!
(३) प्रियसहचर, सहायक और हृदयहारी मित्र के रूप में।
(४) किशोर मगर परिपक्क अवस्था के से प्रेमी के रूप में।
(५) अलौकिक सत्ता के रूप में।
(६) गौरवशाली, गम्भीर और शोभा-मण्डित महाराज के रूप में।

श्रीकृष्ण का जन्म मथुराधिपति कंस-भगिनी देवकी के गर्भ से मथुरा नगरी में अवस्थित राज-वन्दीगृह में होता है; मगर उनका पालन-पोषण गोकुल में यशोदा और नन्द करते हैं। व्रजभूमि की रज में खेल-खेलकर वह बड़े होते हैं—इसलिये उनकी समस्त लीलाओं के अधिकाँश का केन्द्र व्रज है। मथुरा और द्वारका क्रमशः द्वितीय और तृतीय केन्द्र-स्थल हैं। इस प्रकार उनका समस्त जीवन लीलामय है और सूरदास की दृष्टि में वह लीला-पुरुष हैं। यही कारण है जो लीला-पुरुष श्रीकृष्ण के चरित्र का अध्ययन करने के लिये हमें उनकी विविध लीलाओं पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। श्रीकृष्ण की ये लीलायें उनके विविध कृत्य हैं, जिन्हें लीला कहकर पुकारा गया है। और सूरदास ने अपने इष्टदेव की लगभग प्रत्येक लीला का वर्णन विस्तार-पूर्वक, स्वाभाविक रूप में और पूर्ण प्रभावोत्पादकता के साथ किया है। आगे की पंक्तियों में भगवान श्रीकृष्ण के चरित्र का चित्रण हम सूरदास द्वारा किये गये उनकी इन्हीं लीलाओं के वर्णन के आधार पर करेंगे।

(१) अनोखी शोभा से संपन्न अबोध शिशु के रूप में—

शिशु-कृष्ण की सुन्दरता अद्वितीय है। वसुदेव अपने नवजात पुत्र के 'कोटि-काम-स्वरूप सुन्दर' मुख को देखकर प्रसन्नता के कारण फूले नहीं समाते हैं। देवकी पुत्र-मुख को देखकर चकित होकर रह जाती है—और अपने पति वसुदेव से प्रार्थना करती हुई वह कहती है—हे पति! ऐसा कोई उपाय करिये, जिसकी सहायता से अपना यह बालक कंस की कुटिल दृष्टि से बच जाये। किसी भी तरह से इसे किसी दूसरे स्थान पर पहुंचा दीजिए। हमारा ऐसा भाग्य कहाँ है, जो हमारे नेत्र नित्य-प्रति इस रूप-माधुरी का पान करें। हम तो ऐसे सुत के यश को सुन-सुनकर ही जीवित रहेंगे।

इसी प्रकार नन्द महर के यहाँ ब्रज में प्रकट होने पर शिशु-कृष्ण अपनी अनोखी सुन्दरता के कारण समूचे ब्रजवासियों को मोह लेते हैं। उनकी सुन्दरता अद्भुत और अनोखी है। जो कोई भी उन्हें देखता है, चित्र-लिखित सा होकर रह जाता है। सूरदास ने शिशु-कृष्ण की इस अपरिमित सुन्दरता का वर्णन अनेक पदों में किया है। और ये सभी पद शिशु-कृष्ण की किसी न किसी लीला से सम्बन्ध रखते हैं। यहाँ तक कि उनके जन्म लेने तक को भी उनकी लीला कहकर पुकारा गया है। सूरदास की दृष्टि में उनका पालना झूलना, अँगूठा चूसना, सोना, जागना, रोना, किलकना आदि सभी कुछ अतीव सुन्दर है। और वह स्वयम् तो परम् सौन्दर्यशाली है—'घूंघरवाली कुटिल अलकें', 'दूध की दमकती हुई दंतुलियाँ', 'विशाल लोल लोचन,' विशाल भाल पर मसिविन्दु के तिलक' और 'अपार सौन्दर्य से युक्त उनके मुख' पर माता यशोदा, ब्रज की नारियाँ अपना तन-मन निछावर करती हुई थकती नहीं हैं। 'पग चतुराई' करके शिशु-कृष्ण किलकारी मारते हुए झटके के साथ उल्टे हो जाते हैं—और हर्षित-मन नन्द के मन में आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ता है—गोपाल के इन चरित्रों को देखकर यशोदा बलि जाती है।

अबोध शिशु के रूप में कृष्ण की अनेक अलौकिक लीलाएँ भी हैं—जैसे पूतना-वध, श्रीधर अङ्ग भङ्ग, कागासुर-वध आदि। मगर सूरदास ने शिशु कृष्ण की उपर्युक्त मानवीय लीलाओं का वर्णन इतने अधिक विस्तार के साथ किया है कि उसमें उनकी अलौकिक लीलाओं का चित्रण ढक-सा जाता है और श्रीकृष्ण का मानवीय और शिशु-सुलभ रूप ही हमें अपनी ओर आकर्षित करता है। यही कारण है जो यशोदा अबोध कृष्ण के मुख में तीनों लोकों को देखकर भी उनके प्रति माता के से अपने सरल स्नेह का कभी भी त्याग नहीं करती।

(२) मनोहर, चंचल और धृष्ट बालक के रूप में—कृष्ण की वर्ष-गाँठ बड़ी धूमधाम से मनाई जाती है और उनका अबोध शिशु-रूप उनसे दूर जाकर खड़ा हो जाता है। अब वह एक वर्ष के मनोहर और चंचल बालक हैं और घुटनों के बल चलना सीख गये हैं। दिन-प्रतिदिन ज्यों-ज्यों वह बड़े हुए हैं—त्यों-त्यों उनकी सुन्दरता और चपलता भी बढ़ी है। अब उनके बदन की शोभा मनोहर इन्दु के समान हो गई है। चन्द्रमणि की किंकिणी उनकी कटि में बँधी है, भाल पर शोभायमान लटकन लटक रहा है, परम मनोहर कंठ में केहरिनख पहिने हुये हैं—बीच-बीच में जिसमें प्रवाल जड़े हैं, हाथों में पहुँची और पैरों में नूपुर हैं, तन पर पीत पट लिपटा है और मुख पर नवनीत लगाये वह घुटुरवों चलकर नन्द के आँगन में खेल रहे हैं। उन्हें इस प्रकार खेलते देखकर यशोदा और नन्द को अपार सुख मिल रहा है। कभी वह किलककर तात के मुख को देखते हैं और कभी माता के मुख को! कभी घुटुनों के बल सरककर आगे बढ़ जाते हैं—और गिर पड़ते हैं; मगर उठकर फिर आगे बढ़ते हैं। और बालक कृष्ण की यह चपलता नन्द और यशोदा के मन और मस्तिष्क में बालक-बुद्धि उत्पन्न कर देती है। तो, वे आपस में होड़ बद कर कृष्ण को अपने-अपने पास बुलाते हैं—मानों, बालक कृष्ण कोई खिलौना हैं और नन्द और यशोदा होड़ बदकर इस खिलौना के साथ खेल रहे हैं।

कृष्ण कर में नवनीत लिये शोभायमान प्रतीत हो रहे हैं। वह खीझते जाते हैं और मक्खन खाते जाते हैं। लोचन अरुण हैं और भौंह टेढ़ी हैं। शरीर धूल में सन गया है। कभी वह माता यशोदा की अलकें खींचते हैं और कभी तोतली बोली में तात को बुलाते हैं। मणिमय आँगन में घुटनों के बल डोलते हुए कभी वह अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर किलकते और हँसते हैं और कभी पीछे की ओर

देखकर मैया को बुलाते हैं। शब्दों को जोड़कर कुछ कहना चाहते हैं; मगर शब्दों का स्पष्ट उच्चारण नहीं कर पाते—तो संकेत के द्वारा नवनीत माँगते हैं। और 'हरिजू की यह बाल-छवि सकल सुख की सींव' और 'कोटि-मनोज-सोभा' का हरण करने वाली है।

कुछ ही दिनों के पश्चात् कृष्ण पैरों चलने लगते हैं—तो उनकी चपलता और अधिक बढ़ जाती है। सुन्दरता में जीवन की ज्योति जगमगाने लगती है—और वह 'जदुकुल-कुमुद' के लिए 'सुखद-चारु-चन्दा' के समान जान पड़ने लगते हैं। इसलिए कवि इस अवस्था की उनकी शोभा को भुवन के मन को मोहने वाली कहता है—क्योंकि सुखद और सुन्दर चन्द्रमा सभी के मन को मोहने वाला है। और ऐसे परम मनोहर बालक कृष्ण की चपलता को देख-देखकर यशोदा बार बार उनकी 'बलैया' लेती हैं। कृष्ण और बलराम दोनों भाई मणिमय आँगन में खेलते हैं—तो हितकारिणी मातायें—यशोदा और रोहिणी बालक कृष्ण को चुटकी बजा-बजाकर नचाती हैं—तो ऐसा जान पड़ता है—मानो उनकी चपलता गतिवान हो उठी है। यशोदा आँगन में उन्हें नचाती है और कृष्ण ताली बजा-बजाकर गाते और नाचते हैं। आँगन में बैठी दही बिलोती हुई यशोदा हँसते खड़े कृष्ण से कहती है—नवनीत तब मिलेगा—जब तुम नाचोगे। और मोहन तुरंत नाचने लगते हैं। रई की घमर-घमर में उनकी किंकिणी और नूपुरों की ध्वनि सहज भाव से मिल जाती है।

इस प्रकार सूरदास ने बालक कृष्ण की मनोहर सुन्दरता और स्वभाव की चपलता के अनेक चित्र अंकित किये हैं—जिनके बीच उनकी धृष्टता भी विकसित हुई है। ज्यों-ज्यों कृष्ण बड़े होते गये हैं, त्यों त्यों उनकी चपलता भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हुई है—और यही चपलता कभी कभी धृष्टता के रूप में दीख पड़ी है। उनकी धृष्टता के सर्वप्रथम दर्शन हमें 'पाँडे आगमन' के प्रसङ्ग में होते हैं। नन्द महर के पुत्र हुआ है। प्रसन्नता के इस समाचार को

सुनकर महराने का पाँडे उनके यहाँ आता है। यशोदा विप्र का स्वागत करने में कुछ उठा नहीं रखती। ब्राह्मण को भोजन कराने की इच्छा से दूध, आदि सब व्यजंन वह जुटा देती है और पाँडे अपने हाथ से अपना भोजन तैयार करता है। जब भोजन की सब सामग्री तैयार हो जाती है और पाँडे उसे अपने सम्मुख रख, नेत्र बन्द कर, खाने से पूर्व भगवान का ध्यान करता है तो कृष्ण धीरे से वहाँ पहुँच उसे खाना प्रारम्भ कर देते है। और आँख खोलकर देखने पर पाँडे यही दृश्य देखता है। यशोदा भी इस दृश्य को इसी प्रकार देखती है और ब्राह्मण रुष्ट न हो जाये—वह पाँडे की खुशामद-सी करती हुई उसके भोजन के लिए और सामग्री जुटा देती है—मगर दूसरी बार भी ऐसा ही होता है।

'माटी-भक्षण' और 'शालिग्राम-प्रसङ्ग' कृष्ण की ऐसी ही लीलाएँ हैं, जिनमें उनकी चपलता धृष्टता का रूप लिये हुए हैं। और उनकी यह धृष्टता 'माखन-चोरी लीला' में अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुंचती है। अब कृष्ण पाँच वर्ष के हैं और उनमें सुन्दरता, चतुराई, छल आदि का विकास पूर्ण-रूपेण हुआ दीख पड़ता है। मानो माखन चुराने के उपाय उन पर अनेक हैं—फिर उनकी शरारत में साथ देने वाले उनके साथी भी अनेक! साथ ही चतुराई भी उन्होंने खूब सीख ली है। मगर उनके इस काम में सबसे अधिक जो चीज काम आती है, वह है; उनकी सुन्दरता! उनके माखन चुराने की बात समूचा ब्रज जान गया है और गोपियों के मन में उसने उत्सुकता, अभिलाषा और आशा का संचार कर दिया है। वास्तव में, दही से सना हुआ कृष्ण का मुँह और गो-रस के छींटों से युक्त उनका श्यामल सुन्दर शरीर गोपियों के मन को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। और तब उनके मन में एक आशा खेलती है—वे कृष्ण को अपने-अपने घर में माखन चुराते हुये देखना चाहती हैं। और मनोहर, चंचल कृष्ण

सभी की आशा को पूरी करते हैं। शायद इसीलिए सूरदास ने इस प्रसङ्ग के अनेकों पद लिखे हैं।

(२) प्रिय सहचर, सहायक और हृदयहारी मित्र के रूप में—बालक कृष्ण सभी के प्रिय हैं। वह आत्म-विभोर करने वाली सुन्दरता और चपलता से युक्त होने के कारण व्रज के स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े सभी का मन मोह लेने में परम चतुर हैं। जबतक वह बहुत छोटे थे-घर के भीतर हलधर के साथ खेलते मगर घर से बाहर निकल कर खेलने योग्य होने पर उन्हें अनेक संगी-साथी मिल गये—जिनमें श्रीदामा और सुबल नाम के साथी मुख्य हैं। श्रीदामा उनके साथ हर बात में 'होड़' करता है—और उसकी होड़ करने की प्रवृत्ति से कभी वह खिसियाते हैं, कभी वह उसपर क्रोध करते हैं; मगर यशोदा के मना करने पर भी वह अपने सखाओं के साथ खेलना बन्द नहीं करते। सखा उन्हें बहुत प्रिय हैं और वह सखाओं को! विनोदी स्वभाव के कृष्ण की चतुरतापूर्ण चंचलता उनके इन खेलों में विशेष रूप से प्रकाश में आती है। यशोदा के सम्मुख आँख-मिचौनी का खेल हो रहा है। कृष्ण की आँखों पर पट्टी बँधी है और वह 'चोर' हैं। यशोदा बलराम को पकड़ने के लिये उनसे कहती है और बलराम के छिपने की जगह भी उन्हें बता देती है; मगर कृष्ण की होड़ तो श्रीदामा के साथ है और वह कौशलपूर्ण चतुराई कर बलराम के स्थान पर श्रीदामा को पकड़ते हैं। अबकी बार श्रीदामा 'चोर' बनता है—सभी सखा ताली बजा-बजाकर उसकी हँसी उड़ाते हैं—और कृष्ण खुश हैं।

मगर उनकी इसी खुशी में उनका हृदयहारी सहायक रूप छिपा है। यही कारण है जो वह श्रीदामा को चिढ़ाते जरूर हैं, मगर उसके साथ खेलना बन्द नहीं करते। और न वह उससे किसी प्रकार की घृणा ही करते हैं। अन्य सभी सखाओं के समान श्रीदामा भी उन्हें बहुत प्रिय हैं—और वह उनके सभी खेलों में बराबर उनके साथ हैं। कालिय-दमन की लीला तो वह श्रीदामा

की सहायता से ही कर पाते हैं। श्रीदामा की 'हठ' ही इस लीला के संपादन करने में उनको प्रेरित करती हैं—और यह महान कार्य उनके द्वारा पूर्ण होता है।

वास्तव में, कृष्ण अपने सखाओं के प्रिय सहचर, सहायक और हृदयहारी मित्र हैं। सखाओं की 'टेर' सुनते ही वह तुरन्त उनके पास दौड़ जाते हैं, उनसे परामर्श करते हैं और उनके साथ विविध खेल खेलकर आनन्द का अनुभव करते हैं। उनके सखा-मित्रों से उनकी कोई भी बात गुप्त नहीं है। उनकी 'माखन-चोरी लीला' में वह उनके बराबर के साथी हैं। गोपियों के साथ उनकी मधुर लीलाएँ सखाओं को साथ में लेकर पूर्ण होती हैं। 'दानलीला' में यह सत्य हमारे सम्मुख स्पष्ट रूप से आता है। 'बकासुर-वध लीला' में उनका सहायक रूप भलीभाँति चित्रित हुआ है। 'गोवर्धन धारण लीला' के कर्ता वे हैं; मगर अपने सखाओं को यह बात वह कितनी चतुराई से समझा देते हैं कि वह अपने सखाओं की सहायता से ही गोवर्धन को धारण करने में समर्थ हुए हैं। वास्तव में, वह नहीं चाहते कि उनके बराबर के साथी उनके इन अलौकिक कृत्यों को देखकर उनका मान करने लगें और इस प्रकार उनसे दूर हट जाँय। यही कारण है जो उनके सभी संगी साथी उनमें पूर्ण-रूपेण अनुरक्त हैं और किसी मूल्य पर भी वे नहीं चाहते कि उनके प्रिय और हृदयहारी मित्र कृष्ण उनसे दूर हो जाँय, उनसे दूर चले जाँय। इसीलिये कंस के दूत अक्रूर के मुख से राजाज्ञा को सुनकर वे हतप्रभ होजाते हैं—और कृष्ण के मथुरा गमन करने पर, वे वियोग के गहरे नद में डूब जाते हैं।

अपने सखाओं के प्रति कृष्ण के मन में भी वैसा ही अनुराग भरा है। मथुरा से अपने मित्र उद्धव के द्वारा जो संदेश वह इन गोप-सखाओं को भेजते हैं, उसमें उनका यह अनुराग उमग कर छलकता-सा दृष्टिगोचर होता है। मथुरा के अपने प्रवास-काल में वे अनेक बार अपने इन बालपन के साथियों की याद कर दुखी

होते हैं। वास्तव में इस कारण से भी वह ब्रज को भूल जाने में असमर्थ हैं।

(४) किशोर मगर परिपक्क अवस्था के-से प्रेमी के रूप में—
प्रिय सहचर, सहायक और हृदयहारी मित्र के रूप में जहाँ कृष्ण अपने मस्तिष्क की उर्वरता, बुद्धि की तीक्ष्णता, स्वभाव की चंचलता, धीरता और वीरता का परिचय देते हैं, वहाँ प्रेमी के रूप में उनकी वाक्पटुता और मनोवैज्ञानिकता के दर्शन होते हैं। उनकी असीम और अलौकिक सुन्दरता उनके इस रूप में भी उनकी परम सहायक [illegible]। वास्तव में, माखनचोरी की लीलाओं के बीच ही कृष्ण तरुण [illegible]पियों के प्यार को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। उनकी माखन चोरी के प्रसंग में सूरदास ने गोपियों के इस मनोभाव को अनेक बार व्यक्त किया है। साथ ही वह इस सम्बन्ध में कृष्ण की ढीठता को भी कहना नहीं भूले हैं। गोपियाँ अगर उनपर मुग्ध होकर उन्हें हृदय से लगाकर तृप्त होना चाहती हैं तो कृष्ण उनकी इस इच्छा की पूर्ति के निमित्त उनके सीने पर नखों के अमिट चिन्ह अंकित कर देते हैं। और कृष्ण के इस मनभावन व्यवहार से गोपियाँ फूली नहीं समाती हैं; मगर अपने नारी-सुलभ-स्वभाव के वशीभूत होकर वे यशोदा से कृष्ण की इस ढीठता की शिकायत भी करती हैं और इस शिकायत के बदले में जो भी उत्तर उन्हें यशोदा से प्राप्त होता है, उससे वे प्रसन्न ही होती हैं, कुछ असन्तुष्ट नहीं—क्योंकि यशोदा के उसी प्रकार के उत्तर में उनके प्रेम की गोपनीयता सुरक्षित है।

इन्हीं तरुणियों के बीच राधा नाम की एक तरुणी है—भोली और परम सुन्दर! अपने सौन्दर्य पर मुग्धकर कृष्ण अपनी वाक्-पटुता और चपल विनोदी स्वभाव की सहायता से उसे सहज ही में अपने वशीभूत कर लेते हैं। सूरदास कहते हैं—रसिक-शिरोमणि कृष्ण ने भोली-भाली राधिका को बातों ही बातों में भरमा लिया। कृष्ण की 'जोड़ी मिलाकर खेलने' की बात [illegible] रुचिकर

जान पड़ी और वह मनोविज्ञानके ऊपर आधारित उनके चतुरतापूर्ण छलमें छली गई। उसे नयनों ही नयनों में उन्होंने सब-कुछ समझा दिया और वह प्रेम के वशीभूत होकर अनेक बहाने बना-बनाकर उनके पास आने लगी। और उनकी छलता की माया और आगे बढ़ी। मानो, वह नारी को पूर्णरूप से मोह लेने में परम चतुर हैं। इसीलिए कभी वह राधा के नयनों को मूँदते हैं—कभी गाय दुहते समय दूध की एक धार दोहनी में डालते हैं और दूसरी धार पास में खड़ी हुई प्यारी राधा के वक्ष पर छोड़ते हैं। और राधा मीठी सिहरन का अनुभव कर सिहर उठती है। कभी 'सरोज' 'श्रीफल' पर जा पहुँचता है; मगर अचानक माता यशोदा के वहाँ आपहुँचने पर वह अपनी 'लरकाई' की बुद्धि को प्रदर्शित करते हैं; लेकिन प्रेम-रसमें माती राधा उनकी इस चतुराई को भलीभाँति समझती है और 'रतिनागर' कृष्ण की इस चतुराई को देखकर वह हँसती हुई मन ही मन फूली नहीं समाती है। तो, चतुर और रसिक शिरोमणि कृष्ण पर वह अपना सर्वस्व निछावर कर देती है—इसलिये कभी वह राधा के संग निकुञ्ज में रति-क्रीड़ा-विलास में निमग्न हो प्यारी के हृदय की साध को पूरी करते हैं और स्वयं भी खुश होते हैं।

रसिकशिरोमणि और रतिनागर कृष्ण की ये लीलाएँ मनमोहक और आनन्दप्रद हैं। इन लीलाओं से सम्बन्धित उनके अटपटे कार्य उनके रास-परिहास, अधीरता और उत्सुकता के प्रदर्शन, उनके प्रेम-पूरित नयनों के कटाक्ष आदि सभी कुछ राधा और ब्रज-युवतियों के मनका हरण करने में पूर्ण सफल और सहज हैं। दानलीला के समय उनकी अवस्था दस वर्ष की है; मगर तरुणी गोपियों के साथ उनका प्रेम-परिहास, उनकी रति-क्रीड़ा एक परिपक्व अवस्था के प्रेमी की सी पूर्ण और सम्मोहक है। मानो, किशोर कृष्ण अपनी प्रेम-क्रीड़ाओं के समय पूर्ण व्यस्क प्रेमी का रूप सहज-भाव से ही धारण कर सभी ब्रज-युवतियों को तृप्त करने में समर्थ होते हैं।

राधा के साथ कृष्ण का अभेद है। इस सत्य को राधा पर वह

होते हैं। वास्तव में इस कारण से भी वह ब्रज को भूल जाने में असमर्थ हैं।

(४) किशोर मगर परिपक्क अवस्था के-से प्रेमी के रूप में—प्रिय सहचर, सहायक और हृदयहारी मित्र के रूप में जहाँ कृष्ण अपने मस्तिष्क की उर्वरता, बुद्धि की तीक्ष्णता, स्वभाव की चंचलता, धीरता और वीरता का परिचय देते हैं, वहाँ प्रेमी के रूप में उनकी वाक्पटुता और मनोवैज्ञानिकता के दर्शन होते हैं। उनकी असीम और अलौकिक सुन्दरता उनके इस रूप में भी उनकी परम सहायक है। वास्तव में, माखनचोरी की लीलाओं के बीच ही कृष्ण तरुण गोपियों के प्यार को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। उनकी माखन चोरी के प्रसंग में सूरदास ने गोपियों के इस मनोभाव को अनेक वार व्यक्त किया है। साथ ही वह इस सम्बन्ध में कृष्ण की ढीठता को भी कहना नहीं भूले हैं। गोपियाँ अगर उनपर मुग्ध होकर उन्हें हृदय से लगाकर तृप्त होना चाहती हैं तो कृष्ण उनकी इस इच्छा की पूर्ति के निमित्त उनके सीने पर नखों के अमिट चिन्ह अंकित कर देते हैं। और कृष्ण के इस मनभावन व्यवहार से गोपियाँ फूली नहीं समाती हैं; मगर अपने नारी-सुलभ-स्वभाव के वशीभूत होकर वे यशोदा से कृष्ण की इस ढीठता की शिकायत भी करती हैं और इस शिकायत के वदले में जो भी उत्तर उन्हें यशोदा से प्राप्त होता है, उससे वे प्रसन्न ही होती हैं, कुछ असन्तुष्ट नहीं—क्योंकि यशोदा के उसी प्रकार के उत्तर में उनके प्रेम की गोपनीयता सुरक्षित है।

इन्हीं तरुणियों के बीच राधा नाम की एक तरुणी है—भोली और परम सुन्दर! अपने सौन्दर्य पर मुग्धकर कृष्ण अपनी वाक्-पटुता और चपल विनोदी स्वभाव की सहायता से उसे सहज ही में अपने वशीभूत कर लेते हैं। सूरदास कहते हैं—रसिक-शिरोमणि कृष्ण ने भोली-भाली राधिका को वातों ही वातों में भरमा लिया। कृष्ण की 'जोड़ी मिलाकर खेलने' की वात राधिका को रुचिकर

जान पड़ी और वह मनोविज्ञानके ऊपर आधारित उनके चतुरतापूर्ण छलमें छली गई। उसे नयनों ही नयनों में उन्होंने सब-कुछ समझा दिया और वह प्रेम के वशीभूत होकर अनेक बहाने बना-बनाकर उनके पास आने लगी। और उनकी छलता की माया और आगे बढ़ी। मानो, वह नारी को पूर्णरूप से मोह लेने में परम चतुर हैं। इसीलिए कभी वह राधा के नयनों को मूँदते हैं—कभी गाय दुहते समय दूध की एक धार दोहनी में डालते हैं और दूसरी धार पास में खड़ी हुई प्यारी राधा के वक्ष पर छोड़ते हैं। और राधा मीठी सिहरन का अनुभव कर सिहर उठती है। कभी 'सरोज' 'श्रीफल' पर जा पहुँचता है; मगर अचानक माता यशोदा के वहाँ आपहुँचने पर वह अपनी 'लरकाई' की बुद्धि को प्रदर्शित करते हैं; लेकिन प्रेम-रसमें माती राधा उनकी इस चतुराई को भलीभांति समझती है और 'रतिनागर' कृष्ण की इस चतुराई को देखकर वह हँसती हुई मन ही मन फूली नहीं समाती है। तो, चतुर और रसिक शिरोमणि कृष्ण पर वह अपना सर्वस्व निछावर कर देती है—इसलिये कभी वह राधा के संग निकुञ्ज में रति-क्रीड़ा-विलास में निमग्न हो प्यारी के हृदय की साध को पूरी करते हैं और स्वयं भी खुश होते हैं।

रसिकशिरोमणि और रतिनागर कृष्ण की ये लीलाएँ मनमोहक और आनन्दप्रद हैं। इन लीलाओं से सम्बन्धित उनके अटपटे कार्य उनके रास-परिहास, अधीरता और उत्सुकता के प्रदर्शन, उनके प्रेम-पूरित नयनों के कटाक्ष आदि सभी कुछ राधा और ब्रज-युवतियों के मनका हरण करने में पूर्ण सफल और सहज हैं। दानलीला के समय उनकी अवस्था दस वर्ष की है; मगर तरुणी गोपियों के साथ उनका प्रेम-परिहास, उनकी रति-क्रीड़ा एक परिपक्व अवस्था के प्रेमी की सी पूर्ण और सम्मोहक है। मानो, किशोर कृष्ण अपनी प्रेम-क्रीड़ाओं के समय पूर्ण व्यस्क प्रेमी का रूप सहज-भाव से ही धारण कर सभी ब्रज-युवतियों को तृप्त करने में समर्थ होते हैं।

राधा के साथ कृष्ण का अभेद है। इस सत्य को राधा पर वह

प्रथम मिलन के अवसर पर ही प्रकट कर देते हैं। साथ ही इसी लिए वह दोनों के परस्पर-विहार में संकोच की आवश्यकता नहीं समझते; मगर फिर भी वह राधा के साथ अपने प्रेम को गुप्त रखना चाहते हैं। इसीलिये प्रेम के मद में माती राधा को वह लोक-व्यवहार का निर्वाह करने की सम्मति देकर समझाते हैं। ग्रीष्मलीला में वह नयनों ही नयनों में अपनी बात राधा को समझा देते हैं और उसके मन के भावों को समझ लेते हैं। वास्तव में, राधा के साथ उनका आचरण एक सफल नायक के जैसा है। इसीलिये ऐसे अवसरों पर उनमें चँचलता के स्थान पर गम्भीर और गौरवपूर्ण चतुराई के दर्शन होते हैं। राधा को विरह-व्यथा भी सहन करनी पड़ी है। वह स्वयं भी राधा से मिलने के लिए सर्वदा व्याकुल रहते हैं। मगर तब भी राधा के अत्यन्त व्याकुल होने पर ही वह उसके साथ संकेत के द्वारा बत-लाये हुये स्थान पर मिलते हैं।

दानलीला, पनघटलीला, ग्रीष्मलीला, रासलीला आदि कृष्ण की इन प्रेम लीलाओं में उनके चरित्र का प्रकाशन अनेक रूपों में हुआ दीख पड़ता है। अपने इस रूप में वह सुन्दर, चपल, चतुर और विनोदी होने के साथ साथ गम्भीर, गौरवमय, ढीठ रसिक और कोक-कला के पंडित भी हैं। वाक्-चातुर्य और भाव-परिवर्तन की कला उनमें अपरिमित रूप में दृष्टिगोचर होती है। मुरली में मीठी और अत्यन्त मोहक ध्वनि उत्पन्न करने में वह पटु हैं। अनुभवी रसिक होने के साथ साथ वह प्रेम की परीक्षा करने में भी परम चतुर हैं। उनके इस रूप में बुद्धि उनकी प्रखर, स्वभाव उनका हृदयग्राही और क्रियाशीलता उनकी अनुभव-जन्य सी ज्ञात होती है। धृष्ट प्रेमी होने पर भी उनका व्यवहार उत्तरदायित्वपूर्ण है।

(५) अलौकिक सत्ता के रूप में—

मगर मानव-स्वभाव-सुलभ क्रीड़ायें करने वाले श्रीकृष्ण वास्तव

में पूर्ण ब्रह्म हैं—इसीलिए 'सूरसागर' के कवि ने उन्हें 'आदि सनातन, अविनाशी और घट घट वासी' कहकर बार बार पुकारा है। 'सूरसागर' का शायद ही कोई ऐसा पद हो, जिसमें उनके इस रूप की व्यञ्जना न हुई हो। लेकिन उनकी 'असुर हनन' वाली लीलाओं में उनका यह रूप सर्वोपरि दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में उनकी ये लीलायें आश्चर्य-जनक और विस्मयकारी हैं—इसीलिए श्रीकृष्ण एक अलोकिक सत्ता अथवा पूर्ण ब्रह्म हैं। यही कारण है जो कवि का विश्वास है—असुरों का संहार कर भक्तों के उद्धार के निमित्त ही नारायण ने नर-देह धारण की है—और अपनी गति को वह स्वयं ही जानते हैं। अविगत की गति को जान ही कौन सकता है। सूरदास ने तो ऐसे अपने प्रभु की लीलाओं का केवल बखान ही किया है।

पूतना आदि राक्षसों का वध करना वास्तव में एक बहुत ही कठिन कार्य है, मगर कृष्ण-रूपधारी नारायण के लिए यह एक कौतुक-मात्र है—इसीलिये अपनी इन लीलाओं के बीच श्रीकृष्ण एक अलौकिक सत्ता के समान दृष्टिगोचर होते हैं। अल्प-व्यस्क शिशु कृष्ण का वध करने के लिए कंस की आज्ञा से भयानक बलशालिनी पूतना नन्द महर के यहाँ आई और अवसर प्राप्त कर कृष्ण को अपने विष भरे दुग्ध का पान कराने लगी; मगर कृष्ण पर उसके उस विष का किंचित-मात्र भी प्रभाव न हुआ; साथ ही इसके विपरीत वह उसका रक्त तक चूस गये—और कुछ ही क्षणों के उपरांत विषमयी राक्षसी पूतना का विशाल शरीर निर्जीव होकर घर के बाहर वन में गिर पड़ा, मगर बहुत ही छोटे से कृष्ण सकुशल उसके वक्ष पर क्रीड़ा कर रहे थे—और यशोदा तथा अन्य -ब्रज वासियों ने इसी रूप में उन्हें देखा। मगर कृष्ण की इस अतिलौकिक लीला का उनके सरल हृदय पर कुछ भी प्रभाव न हुआ और वे शिशु की मंगल-कामना करते हुए उन्हें अपने घर ले आये।

पूतना-वध-जैसी श्रीकृष्ण की अनेक लीलाएँ हैं, जिनमें उनका

अलौकिक रूप प्रकट हुआ है—और उनकी इन लीलाओं का वर्णन हम पीछे कर आये हैं। वास्तव में पूतना-वध से लेकर भौमासुर-वध तक श्रीकृष्ण ने अनेक राक्षसों का वध कर अपने भक्तों तथा व्रज-भूमि का उद्धार किया है—और उन राक्षसों को भी अपने लोक भेज दिया है, जिससे सहज ही में उनकी मुक्ति हो गई है। गोवर्धन—धारण-जैसी लीलाएँ भी उनके इसी रूप की द्योतक हैं।

वास्तव में, अपने इस रूप में श्रीकृष्ण ऐसे कृत्य करते हैं, जिनमें उनका ब्रह्मत्त्व झाँकता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसीलिये वह अतीव बलशाली, अजेय, अद्भुत, क्षमता से सम्पन्न और पूर्ण ब्रह्म जान पड़ते हैं।

(६) गौरवशाली, गम्भीर और शोभा-मंडित महाराज के रूप में—द्वारकापुरी के कंचन के कोट में एक रुचिर मैदान रचा गया है, श्रीकृष्ण उसी मैदान में चौगान खेलते हैं। यदुवंशी वीर दो दलों में बँटे हुए हैं—उनमें से एक दल के साथ श्रीकृष्ण हैं और दूसरे दल के साथ बलराम। सभी कुँवर उच्चैःश्रवा—जैसे घोड़ों पर सवार हैं। सभी रङ्ग के घोड़े वहाँ पर दीख पड़ते हैं—उनमें से कोई नील, कोई सुरंग, कोई कुम्मैत और कोई श्याम है, वास्तव में, अपने सौन्दर्य और वैभव से द्वारका को श्रीकृष्ण ने बहुत ही सुन्दर और वैभवशालिनी नगरी बना दिया है। इसीलिए देवताओं को अपने-अपने भवन नहीं भाते और वे नित्यप्रति द्वारका में आ-आ कर क्रीड़ा करते हैं।

चौगान खेलते समय श्रीकृष्ण बहुत ही गौरव-गम्भीर जान पड़ते हैं। इसीलिए सूरदास ने इस खेल में उनकी चपलता का वर्णन नहीं किया है। शायद बालपन की उनकी चपलता अब आकर उनसे कोसों दूर जाकर खड़ी हो गई है। वास्तव में गौरव की गम्भीरता और उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य की भावना ने उनमें कंस के वध के पश्चात् ही अपना-अपना स्थान बना लिया है। इसीलिए

नंद बाबा और गोपों को मथुरा से विदा करते समय वह कहते हैं—सुख-दुख और हानि-लाभ की ऐसी ही परम्परा है। मुझसे वही नाता सदैव बनाये रखना। बाबा, मुझे अपना ही सुत समझना और सर्वदा दया भाव रखना। इतना कहकर श्रीकृष्ण वहाँ से उठकर चले जाते हैं और नन्द और गोप भी भरे नेत्र और लटपटाते पगों से वहाँ से चल देते हैं।

यही भाव उनकी इस परवशता में अन्तर्भूत है कि वह गोपियों के प्रति अपने प्रेम की बात को मथुरा में किसी से भी नहीं कह पाते हैं। सखा उनका उद्धव है, मगर वह प्रेम के क्षेत्र से बहुत दूर और अद्वैत-दर्शी है। इस बात को अन्य किसी से कहने में उनके गौरव की गरिमा नष्ट हो सकती है—इसीलिये इस सम्बन्ध में वह बिल्कुल मौन रहकर हृदय की व्यथा को हृदय ही में धारण किये रहते हैं।

मगर 'सूरसागर' में श्रीकृष्ण का गौरवशाली, गम्भीर और शोभा मण्डित यह रूप बहुत ही कम स्थानों पर अल्प-मात्रा में ही दीख-पड़ता है—मानो, 'सूरसागर' के रचयिता सूरदास को अपने प्रभु का यह रूप रुचिकर प्रतीत नहीं हो सका है।

२—बलराम

रोहिणी-सुत बलराम श्रीकृष्ण के बड़े भाई होने के नाते उनकी प्रेम-लीलाओं में दृष्टिगोचर नहीं होते-इसीलिए 'सूरसागर' में उनके चरित्र का चित्रण बहुत ही कम स्थानों पर हुआ दीख पड़ता है। मगर भागवत् के रचयिता के समान सूरदास ने भी बलराम को श्रीकृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व के एक अंश के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया है। बालपन के खेलों, गोचारण, कंस-वध आदि ऐसे ही समय में वह कृष्ण के साथ रहते हैं; मगर उनकी गुप्त लीलाओं में उनके अन्य सखाओं के समान वह कृष्ण का साथ नहीं देते। अवस्था में वह कृष्ण से बड़े हैं—शरीर उनका

गौर है और नेत्र उनके लाल। उनके गौर शरीर पर नीलाम्बर बहुत ही शोभायमान प्रतीत होता है। छोटे भाई कृष्ण के प्रति वह स्नेह के वशीभूत रहते हैं। वह उनकी कामना को पूर्ण करने वाले हैं। उनका संकर्षण नाम इसीलिए पड़ गया है—क्योंकि वह सूर के प्रभु श्रीकृष्ण को आकर्षित करने वाले हैं।

वह श्रीकृष्ण के वास्तविक रूप से पूर्ण परिचित हैं—इसीलिए उनकी लीलाओं के रहस्य को भी वह भली भाँति जानते हैं। मगर नर-देह की वास्तविकता अथवा उसके स्वभाव को भी वह नहीं भूलते और कृष्ण के अन्य सखाओं की भाँति वह भी उनकी लीलाओं को देख-देख कर आश्चर्य प्रकट करते हैं. लेकिन साथ-साथ वह उनके अति प्राकृत रूप के सम्बन्ध में संकेत भी करते जाते हैं। कालियादमन लीला के अवसर पर उनके चरित्र की यह विशेषता विशेष रूप से हमारे सम्मुख आती है। यमुना में से श्रीदामा की गेंद निकालने के बहाने श्रीकृष्ण कालीदह में कूद पड़े—और इस बात को देख सुनकर समूचा व्रज कराह उठा, चीत्कार करने लगा—तो, वह कहते हैं—हे व्रजवासियो, सुनो—कृष्ण 'अन्तरजामी' और 'अविनासी' हैं। वह 'आनन्द-रासी' और 'रमा सहित जल ही के वासी हैं।'

जैसा कि 'सूरदास की भक्ति-भावना' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत हम लिख आये हैं— अपने अनुज श्रीकृष्ण के प्रति बलराम के दो ही भाव हैं— कृष्ण के साथ प्रीतिपूर्वक खेलना भी और उनको चिढ़ाना भी। उनके इस भाव को हम नर-देह का स्वभाव कह सकते हैं। और उनका दूसरा भाव है— कृष्ण के अलौकिक रूप की वास्तविकता को समझना तथा उसके प्रति सदा सजग रहना। उनके ये दोनों भाव विविध लीलाओं और खेलों के बीच सरलता पूर्वक देखे जा सकते हैं।

एक दिन खेल हो रहा है। सुबल, श्री दामा आदि सभी सखा कृष्ण और हलधर के साथ खेल रहे हैं। सभी सखाओं के बीच

परस्पर होड़ बद कर खेल खेला जा रहा है। कृष्ण की होड़ श्री दामा से है। वह उसे छूकर भागते हैं, मगर श्री दामा दौड़कर उन्हें पकड़ लेता है तो, श्याम कहते हैं— मैं तो जानबूझ कर खड़ा हो गया—नहीं, तुम मुझे क्या छू सकते हो। और कृष्ण की इस बात को सुनकर सभी सखा ताली दे-देकर हँसने लगते हैं। मगर कृष्ण के इस प्रकार खिसिया जाने पर हलधर सभी से कहते हैं—यह तो ऐसा ही है। न इसके मा है और न इसके बाप! यह हार-जीत क्या जाने। हारता है तो सखाओं से झगड़ा करने लगता है।

और बड़े भाई हलधर की इस कटु-उक्ति को सुनकर कृष्ण रोने लगते हैं। रोते हुये ही घर पहुँचते हैं—तो, यशोदा रोने का कारण पूछती है। और उत्तर में वह हलधर की शिकायत करते हैं। तो, उनकी उन बातों पर मन ही मन रीझ कर यशोदा उनसे कहती हैं—बलभद्र तो जन्म से ऐसा ही धूर्त है। मैं गोधन की सौगंध खा कर कहती हूं—तू मेरा पूत है और मैं तेरी माता!

इस प्रकार हलधर द्वारा कृष्ण को चिढ़ाने के अनेक उदाहरण हैं; मगर समूचे 'सूर सागर' में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जिसमें बड़े भाई के सम्मान पर कृष्ण ने कोई चोट की हो। शायद इसीलिए हलधर ने भी अपने छोटे भाई कृष्ण को सर्वदा ही स्नेह की दृष्टि से देखा है। उलूखल-बंधन की लीला में उनका यह स्नेह पूर्ण-रूपेण स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। एक ग्वाल ने हलधर से जाकर कहा— तुम्हारे लघु-भ्राता को यशोदा ने आज प्रातः से ही ऊखल से बाँध रक्खा है। मैंने यशोदा को समझाया; मगर वह नहीं मानी.... और यह बात सुनते ही हलधर आतुरता के साथ घर आये और श्याम को ऊखल से बँधा हुआ देखा— तो, उनके दोनों नेत्रों में जल भर आया। फिर गहरी अपनत्व की भावना के बीच उत्पन्न होने वाले मीठे क्रोध की सहायता से कृष्ण की भर्त्सना करते हुए वह उनसे कहने लगे—अच्छा किया, दोनों हाथ बँधा लिये। शैतानी करने से मैंने कितनी बार तुमको रोका है; मगर

तुम नहीं माने। अब लँगराई करना छोड़ दोगे। ठीक हुआ।

फिर, माता के पास जा, दोनों हाथ जोड़कर वह यशोदा से कहने लगे— माता, श्याम को छोड़ दे और उसके स्थान पर मुझे बाँध दे। आज प्रातः जब घर से निकला तो सगुन अच्छा नहीं हुआ था। कान्हा, मेरा प्राण-जीवन-धन है? उसी की बँधी हुई भुजाओं को तू मुझे दिखला रही है। ग्वालिनें बौरा गई हैं, जो झूँठी शिकायतें लेकर तेरे पास आती हैं। और तूने उनके सिखाये में आकर कठिन लकुटिया से मेरे भैया को त्रास दिया है। तू भली है, मैया, जो गोपाल के कोमल तन को देखकर भी तेरे मन में कसक नहीं होती है। यह तो मैया तू है, अगर कोई और होता तो आज देखता कि कौन कृष्ण को उँगली छुआकर सकुशल यहाँ से लौटता ....। साथ ही बलराम ने यशोदा को यह भी बतला दिया कि तू कान्हा को पहचानती नहीं है। शिव और विरंचि जिसकी महिमा को नहीं जानते, वही गायों के पीछे दौड़ता है। अनेक पुण्य करने पर ही तूने इसको प्राप्त किया है। इस प्रकार यशोदा पर अपना क्रोध प्रकट कर झट उन्होंने कृष्ण को अपने हाथों बंधन से मुक्त कर दिया और प्रीति-पूर्वक उन्हें अपने हृदय से लगाकर उनके दुःख को भुला दिया।

वास्तव में, बलराम कृष्ण के परम सहायक और स्नेही हैं। वह कृष्ण के अवतार लेने के प्रयोजन से भी भली भाँति-परिचित हैं। वह जानते हैं, वन में कृष्ण के द्वारा अनेक राक्षसों का वध होना है—इसीलिए माता यशोदा को समझाते हुए एक स्थान पर वह कहते हैं— श्याम को वन तू मेरे साथ जाने दे। तू डरती क्यों है? मैं उसे अपने पास से कभी भी अलग नहीं करता। क्या तुझे मेरी बात पर विश्वास नहीं होता।

इस प्रकार माता के मन में विश्वास की जड़ जमाकर वह कृष्ण को वन ले जाने लगते हैं और राक्षसों के वध के प्रत्येक अवसर पर वह उनके किसी न किसी रूप में सहायक होते हैं। बकासुर

और धेनुक नामक राक्षसों का वध तो बलराम ने ही किया है। वह राक्षसों की चालाकियों से भी परिचित हैं, इसीलिए प्रलंब नामक राक्षस की चतुराई को वह तुरन्त ही समझ जाते हैं और संकेत के द्वारा कृष्ण से कहते हैं— एक असुर ग्वाल रूप धारण कर ग्वालों में मिल गया है।

हलधर के स्वभाव में तामस और कठोरता का भी विशेष स्थान है। कृष्ण के प्रति जितने वह स्नेही हैं, अन्यों के प्रति उतने ही वह कठोर और क्रोधी! और उनकी यह कठोरता और क्रोध कृष्ण के विपक्षियों अथवा बुरों के लिए ही पूर्ण-रूपेण सुरक्षित है। अच्छों के वह प्रेमी हैं। इसीलिए कृष्ण के द्वारा पूर्ण होने वाले समस्त संहार-कार्यों में वह उनके परम सहायक हैं। उनकी प्रेम-लीलाओं में वह कभी भी सम्मलित नहीं होते। वत्स रूपधारी राक्षस का वध उन्होंने तालरस के नशे में उन्मत्त हो जाने पर किया है। तालरस के अतिरिक्त उन्हें वारुणी भी अत्यन्त प्रिय जान पड़ती है। द्वारका से जब वह ब्रज लौटे तो वारुणी का पान कर उन्मत्त हो गये और उसी के नशे में उन्होंने कालिंदी के साथ दुर्व्यवहार किया।

जान पड़ता है, ब्रह्म श्रीकृष्ण के तामस रूप के प्रतीक बलराम हैं—इसीलिये 'सूरसागर' के कवि ने कृष्ण और बलराम को सँयुक्त कर अपना इष्टदेव माना है।

३—यशोदा

'सूरसागर' में यशोदा का व्यक्तित्व मा का व्यक्तित्व है। मा का व्यक्तित्व क्या है—यशोदा के चरित्र-चित्रण में सूरदास ने इसे पूर्ण-रूपेण व्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है। इसीलिये विद्वान् उन्हें मातृ-हृदय का कवि कहकर सम्मानित करते हैं। वास्तव में, मा के हृदय की अनुभूतियों को यशोदा के कार्य-कलापों के द्वारा सूरदास ने इतनी सफलता के साथ निबाहा है कि देखकर ठगा सा

रह जाना पड़ता है। यही कारण है जो सूरदास की यशोदा वात्सल्य रस के गहरे नद में डूबी हुई-सी जान पड़ती है— मानो, पुत्र श्रीकृष्ण की खुशी में ही वह खुश है और उनके दुःख में हीं वह दुखी। इसीलिये वह कृष्ण के अलौकिक रूप के सम्बन्ध में जानकर भी उस ओर से उदासीन ही रहती है। वह तो केवल इतना ही जानती है—कृष्ण उसका पुत्र है और वह उसकी मा! फिर, मा होने के नाते उसे रात-दिन यही चिन्ता रहती है—उसके पुत्र को नींद क्यों नहीं आ रही है? इसीलिये वह अपने 'लाल' की निंदिया की मनौती मनाती है—'मेरे लाल की आऊ निंदरिया काहे न आन सुवावै।' हरि पलक मूँद लेते हैं तो, वह मौन हो जाती है और सब को आँखों के इशारे से ही सब कुछ बतलाती है। उसे डर है, कहीं धीरे से बोलने पर भी उसका पुत्र जग न जावे और कची नींद में जाग जाने के कारण दुःखी हो।

पुत्र कृष्ण की प्रत्येक बातमें उसे एक अनोखी तृप्ति का अनुभव होता है। उनका उल्टा हो जाना जैसी एक साधारण घटना भी उसके लिये एक अर्थ रखती है—मानो, यह कोई एक महत्त्वपूर्ण घटना है, जिसके लिए वह बधाई गवावेगी। इसीलिये सरल हृदय यशोदा अपने स्नेह शील स्वभाव के कारण बहुत पहले से ही इस बात की भी चिन्ता करने लगती है—उसका कान्हा घुटुरवों कब चलेगा? उसके दाँत कब निकलेंगे? कब वह अपनी तोतली बोली में उसे मा कहकर बुलावेगा। मानो, रात-दिन इन्हीं बातों की चिंता में निमग्न रहकर ही वह जी-पाती है, जीती है। और उसके स्वभाव की यही दो विशेषताएँ हैं, जिनको आधार बनाकर सूरदास ने एक मा का सफल चित्र अंकित किया है।

उसके हृदय की सरल पवित्रता और स्नेहशीलता ही मानो उसकी दो निधियाँ हैं, जो उसके चरित्र गठन में 'सूरसागर' के कवि के लिए सहायक सिद्ध होती हैं। अपने स्वभाव की सरलता के कारण ही एक संभ्रान्त व्यक्ति की पत्नी और कृष्ण जैसे पुत्र की

माता होने पर भी उसे गर्व नहीं है। इसीलिए अपनी खुशी को वह समूचे व्रज की खुशी समझती है और प्रसन्नता पूर्वक सभी नर-नारियों को उसमें सम्मलित कर उसे प्रकट भी करती है। उसके स्वभाव की इस सरलता को सूरदास ने शब्द-चित्रों के द्वारा अनेक रूपों में चित्रित किया है। उदाहरणार्थ कृष्ण-जन्म पर होने वाले उत्सव का नाम लिया जा-सकता है, जिसमें अनेक व्रज-वासी सम्मिलित हुये हैं।

उसका हृदय इतना पवित्र है कि वह सभी का सहज ही में विश्वास कर लेती है। कपट-रूप धारिणी पूतना को वह पहिले से नहीं जानती; मगर अपनी सरलता के वशीभूत हो वह नन्हे-से कृष्ण को उसकी गोदी में सहज भाव से दे-देती है। मानो, वह समझती है, संसार में सब कोई उस जैसा ही पवित्र और सरल हैं। मगर धीरे-धीरे जब उसका पुत्र अनेक विपत्तियों में होकर जीवन में आगे बढ़ता है तो एक दिन वह बहुत ही अधीर होकर सोचती है—मेरी कितनी तपस्याओं के फल-स्वरूप यह पुत्र मुझे मिला है। तो, अब मैं घर के काम-काज की बिल्कुल भी चिन्ता न करूँगी और गोपाल को अकेले न छोड़ूंगी। मुझ निधनी का धन यही है।

अपने पुत्र कृष्ण के प्रति उसका लगाव अपरिमित और अगाध है—जिसका वर्णन सूरदास ने 'सूरसागर' के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के आरम्भ से ही प्रारम्भ कर कृष्ण के मथुरा जाने के प्रसंग तक प्रचुर-मात्रा में किया है। यही कारण है जो बालकृष्ण की समस्त लीलाओं में उसका व्यक्तित्व सभी ओर दीख पड़ता है। वास्तव में, वह निखरा ही इस प्रकार है। तृणावर्त के वध के प्रसंग में यशोदा के चरित्र की झाँकी इस प्रकार है—बार बार अपने लाल का मुख देखकर वह कहती है—तू मुझ 'निधनी' का 'धनिया' है। फिर, अपने पुत्र श्याम का अति कोमल तन निरखकर बार-बार मन में पछताती है और कहती है—तेरी बलिजाऊँ, तू तृणावर्त के

घात से किस प्रकार बच गया। न जाने किन पुण्यों के कारण कौन सहायता करता है। पूतना ने वह काम किया था और इसने यह काम किया। तब ही माताको दुखी जानकर हरिनन्ही दँतुलियों को दिखलाते हुए विहँसते हैं और माता का दुख दूर कर देते हैं वह सुत के मुखको देखकर फूली न समाई और प्रेम मग्न हो तन की सुध-बुध भूल गई।

इसी बीच कृष्ण बड़े हो जाते हैं—किशोर! मगर घर के भीतर वह किशोर है और बाहर गोपियों के बीच में व्यस्क! तब यशोदा हमारे नेत्रों के सामने से अधिकाँश में हट जाती है। लेकिन उसकी छाया का आभास बराबर 'सूरसागर' के पाठकों को मिलता रहता है। वह आनन्दमयी है। कृष्ण का संयोग उसमें उल्लास का आनन्द भरता रहता है और वह अपने उसी सुख में लीन रहती है। इस बात का उसे स्वप्न में भी विचार नहीं आता कि कभी प्रिय पुत्र कृष्ण से उसका वियोग भी होगा। मगर एक एक दिन वह भी आता है और मा यशोदा का हृदय चीत्कार कर उठता है। विछोह की ऐसी ही पीड़ा का अनुभव उसने कालिया-मर्दन-लीला के समय किया था— या अब कर रही थी। अक्रूर के साथ कृष्ण मथुरा जा रहे हैं और इस बात को सहन-कर-सकने में स्वय को वह असमर्थ पा रही है। वह रोने लगती है— मगर कृष्ण उसके रुदन को देखकर भी नहीं रुकते—तो, वह हा हा कार करने लगती है। चिल्लाकर कहती है-‐अरे, गमन करते हुये कृष्ण को कोई रोक ले। नन्द यशोदा को समझाते है, लेकिन उसके हृदय को किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिल पाती। वह अत्यन्त विकल हो जाती है। और जब कृष्ण चल देते हैं-तो, कृष्ण का नाम ले लेकर चिल्लाती हुई वह कटे हुए वृक्ष को भाँति पृथ्वी पर गिर पड़ती है। भयंकर रुदन करती है।

और 'सूरसागर' का कवि उसे यहीं पर छोड़कर गोपियों की विरहावस्था का वर्णन करने लगता है। फिर बहुत बाद में उसका

प्रसंग आता है। और वह हमें विलाप करती हुई ही दिखलाई देती है। इस बार उसके रुदन का रूप और भी अधिक करुणाजनक है। वह आत्म-हत्या करने तक पर उतारू हो जाती है। नन्द खाली हाथों मथुरा से लौटते हैं-तो, वह बौखला-सी जाती है। इस बार उसका पुत्र प्रेम नन्द के प्रति कहे जाने वाले कठोर-वाक्यों में प्रतिध्वनित होता है। उनको धिक्कारतीं हुई वह कहती है- तुम श्याम को छोड़कर जीवित क्यों लौट आये। राजा दशरथ की भाँति उसी स्थान पर प्राण क्यों न गँवा दिये।

कृष्ण की याद करते समय उसे उन बातों की भी याद आती है, जो-जो कष्ट उसने लंगराई करने पर कभी-कभी उनको दिये थे। उस समय की उसकी सबसे अधिक करुण स्थिति वह है, जब वह निराश होकर मधुपुरी में बसने की इच्छा करती है। पंथी के द्वारा देवकी को भेजा जाने वाला संदेश उसकी सबसे अधिक करुण-दशा का द्योतक है। इसमें उसके स्वार्थ की इति-श्री और प्रिय-पात्र के लिये सर्वस्व के त्याग की भावना निहित है। मानो, प्रिय की खुशी ही प्रेमी की खुशी है। और यही सच्चा प्रेम है।

वास्तव में, यशोदा का चरित्र एक सरल, स्नेहशील, त्यागमयी और कल्याणी मा का चरित्र है।

४—नन्द

भगवान् श्रीकृष्ण के अन्नदाता पिता नन्द महर गोकुल के एक संभ्रान्त और सम्पन्न व्यक्ति हैं। वह गोकुल के समाज के मुखिया और मथुराधिपति कंस के प्रतिनिधि के रूप में हैं। जिस प्रकार यशोदा कृष्ण के लिए एक स्नेहमयी माता है, उसी प्रकार नन्द उनके स्नेहशील पिता हैं। कृष्ण के प्रति उनका स्नेह भी अपार है; मगर 'सूरसागर' में वह प्रकट कम स्थानों पर हो सका है। हो सकता है, पुरुष के गौरव की महत्ता को सुरक्षित रखने की दृष्टि से सूरदास ने उसे इसी प्रकार चित्रित करना उचित समझा हो।

यशोदा नारी है, इसलिए भावुक है। उसका संयोग-सुख और विरह वेदना उसके कथन और चेष्टाओं से स्पष्ट हो जाती हैं; मगर नन्द पुरुष हैं, इसलिए पुरुष की गरिमा को सुरक्षित रखने की दृष्टि से वह अपने सुख और दुख को बहुत कम प्रकट करते हैं। परन्तु उनके हृदय में भी कृष्ण जैसे पुत्र के प्राप्त होने पर होने वाली प्रसन्नता कुछ कम नहीं है और न कृष्ण के विछोह का दुख ही कम है। 'सूरसागर' में जब-जब भी वह हमारे सम्मुख आते हैं, वह उतने ही सरल-हृदय, स्नेहशील और विछोह के दुख से दुखी हुये दृष्टिगोचर होते हैं, जितनी कि यशोदा!

कृष्ण के प्रकट होने पर यशोदा की भाँति, उनका आनन्द भी फूटा पड़ता है। इस खुशी में उन्होंने धन को दोनों हाथों से लुटाया है। जिस किसी ने जिस वस्तु की भी उनसे कामना की, उसने उस वस्तु को ही उनसे सहर्ष प्राप्त किया। प्रसन्नता के इस अवसर पर उन्होंने किसी को भी असन्तुष्ट अपने द्वार से नहीं लौटाया। वास्तव में, इस समय का उनका रूप औघढ़ दानियों जैसा है। साथ ही कृष्ण के विछोह के दुख को भी उन्होंने बहुत दर्द के साथ सहन किया। इसी दुख के कारण एक बार वह मूछित भी होगये। उनके मूर्छित होने की बात इस प्रसङ्ग के पूर्व भी एक बार हमारे सम्मुख आती है। रोते-जाते गोप-बालकों द्वारा प्रिय पुत्र कृष्ण के कालियदह में कूद जाने की बात सुनकर, पुरुष होने के नाते, पहिले तो वह यमुना तट की ओर भागते हैं; मगर वहाँ का दृश्य देखकर मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। मगर कुछ ही देर पश्चात जब वह कृष्ण कालिय के फन पर नाचते हुये देखते हैं तो उनकी प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। वह फूले नहीं समाते।

मगर नन्द और यशोदा के स्वभाव में एक अन्तर स्पष्ट दिखलाई देता है। यशोदा कृष्ण के अलौकिक रूप को देखकर भी नहीं देख पाती; लेकिन नन्द को उनके उस रूप में कुछ-कुछ विश्वास हो जाता है। इसीलिए कंस के यहाँ कृष्ण को भेजते हुये

वह किसी प्रकार की भी आशंका नहीं करते। इसके विपरीत विकल हुई यशोदा को समझाते हुये वह कहते हैं—यशोदा, तू कंस के भय से दुखी न हो। कान्ह पर मैं विश्वास करता हूँ। फिर, वह अपनी इस बात की पुष्टि के निमित्त पूतना आदि राक्षसों की बात भी याद दिलाते हैं। और उनके इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कृष्ण के अलौकिक रूप की वास्तविकता में विश्वास करने लगे हैं।'

मगर वह पुत्र कृष्ण के ब्रजवासी रूप के ही स्नेही पिता हैं—इसीलिये कुरुक्षेत्र में उनके प्रकृत रूप के दर्शन नहीं हो पाते।

५—राधा

'सूरसागर' में राधा कृष्ण की अर्द्धांगिनी है। वह अतीव सुन्दर है। प्रथम दर्शन के समय ही कृष्ण उसके विशाल नेत्र और गोरे तन पर रीझ जाते हैं 'भौंरा-चकडोरी' का खेल खेलते समय रवि-तनया के तट पर पहिले-पहल उन्होंने उसे देखा और उसके भाल पर लगी रोली, पीठ पर लटकी वेणी और गोरे तन पर नीले वस्त्र की शोभा को देखकर वह मुग्ध होकर रह गये। फिर उस 'रसिक-शिरोमणि' ने बातों ही बातों में उस भोली बालिका को भरमा लिया और उसके हृदय में 'गुप्तप्रीति' प्रकट कर उस सीधी राधिका को चंचल और चतुर बना दिया। अब वह कृष्ण से मिलने के लिये आतुर रहने लगी—और तब उसने उनसे मिलने के अनेक उपाय भी खोज निकाले। वह माता से दोहनी माँगकर, अपने नेत्रों को तृप्त करने के लिये, गाय दुहाने के बहाने 'खरिक' में जाने लगी। और कुछ ही दिनों के पश्चात् वह इतनी चतुर होगई कि वह कृष्ण को भी छकाने लगी। अपनी माता को बहकाने के लिये भी उसने अनेक उपाय खोज निकाले। और उसके वे बहाने कुछ इस प्रकार के हैं, जिसमें उसकी अबोधता व्यञ्जित होती है;

मगर साथ ही उनमें उसकी रहस्यमयी गूढ़ता के भी दर्शन होते हैं। लेकिन उसकी मा उसके इस रहस्य को नहीं समझ पातीं।

छोटी-सी राधिका ने अपनी सुन्दरता और चतुराई की बातों की सहायता से यशोदा को भी प्रभावित किया और वह सोचने लगी कि श्याम और राधिका की जोड़ी भली रहेगी। इसके लिये वह सविता को भी मनाने लगी। इसीलिये यशोदा ने एक दिन हँसी में उससे कहा—मैं तेरे पिता को अच्छी तरह से जानती हूँ—वह बड़ा 'लंगर' है। और यशोदा की इस बात को सुनकर चतुर राधिका बोल उठी—क्या बाबा ने भी तुमसे ढिठाई की है! और यशोदा उसकी इस बात को सुनकर चुप होकर रह गई।

वास्तव में, राधा अवसर के अनुसार बातें बनाने में बहुत चतुर है। एक बार यशोदा ने उसे दोष दिया—बन-ठनकर आती है और सारा दिन यहीं बिताती है। क्या तेरे घर में कोई काम नहीं है। मेरा कन्हैया तुझे देखकर पागल-सा हो जाता है। ऐसा कौनसा मन्त्र तेरे पास है, जिसे तू उस पर डालती है। राधा ने तुरन्त ही उत्तर दिया—मुझसे क्या कहती हो। अपने पुत्र को ही रोक लो। श्याम ही मुझसे कहते हैं—तुझे देखे बिना मेरे प्राण नहीं रहेंगे। मैं तो इसीलिए यहाँ पर चली आती हूँ।

सूरदास कहते हैं, कृष्ण और राधा नागर और नागरी हैं। यशोदा और समूचे व्रज की दृष्टि में वे बालक और बालिका हैं; मगर जब वे दोनों परस्पर मिलते हैं तो उनका यह मिलन वय-प्राप्त स्त्री-पुरुषों का-सा है। मानो, अपने इन शब्दों के द्वारा वह कहना चाहते हैं—यह लीला अलौकिक की है। इसे मानवीय नहीं समझना चाहिये। राधा प्रकृति है और कृष्ण पुरुष!

इसीलिये नन्हीं राधा और छोटे से कृष्ण के प्रेम-प्रसंग 'सूरसागर' में अनेक हैं। धीरे-धीरे इन दोनों का प्रेम उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त हुआ है, कुछ क्षीण नहीं। कुछ दिनों तक राधा को मा-बाप का डर सताता है—इसीलिये दानलीला के अवसर पर

वह कृष्ण को सबके सामने ऐसी बातें करने से रोकती हैं; मगर इस लीला के पश्चात् उसका निडर रूप हमारे सम्मुख आता है। परम सुन्दरी राधा प्रेम-विह्वल हुई पागल-सी फिरने लगती है। अब उसे किसी का भी भय नहीं है और कृष्ण उसकी इस विरह-वेदना को समझ उसके साथ विहार करते हैं। तो, विहार के इसी अवसर पर राधा बड़े ही दीन भाव से कृष्ण के सम्मुख अपने हृदय की सभी बातें कहती है। माता-पिता और लोक-लाज के कारण प्रेम के मार्ग में जो बाधाएँ आती हैं, उन सभी का जिक्र वह इस समय करती हैं, मगर कृष्ण अपने और उसके बीच प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध बतलाकर भी उसे माता-पिता और लोक-लाज की पर्वाह करने की ही सलाह देते हैं।

राधा की सुन्दरता अनुपम है—इसीलिए 'सूरसागर' में उसकी सुन्दरता के अनेक चित्र हैं। वैसे सूरदास ने उसके प्रत्येक अंग की शोभा को अनुपमेय कहा है; परन्तु उसके नेत्रों की शोभा सर्वोपरि है। बालक कृष्ण जब कभी उसके नेत्रों को पीछे से आकर अपने हाथों से ढकने का प्रयत्न करते हैं—तो, उसके विशाल, चंचल, अनियारे नेत्र उनके हाथों में नहीं समा पाते। यशोदा उसके नेत्रोंकी विलक्षणता को देखकर कृष्ण के प्रति सशङ्कित हो उठती है। अंजन लगे हुए वे खंजन-नयन श्याम को मुग्ध कर देते हैं। सखियाँ पूछती हैं—राधे! तेरे ये नयन हैं या बान?

राधा 'सहज रूप की राशि' है। और सखियाँ नख शिख से श्रृङ्गार करके भी उसकी सुन्दरता की समता नहीं कर पातीं और जब वह अपनी सुन्दरता को अलंकृत कर 'राज हंस-गति' से चलती है तो उसके सुअङ्गों की सुगन्धि के कारण भ्रमर गुञ्जार करते हुए उसके साथ-साथ उड़ते हैं। उसकी इस अनुपम सुन्दरता को देखकर उसकी सखियों के हृदय में भी आनन्द की लहर-सी दौड़ जाती है और मोहन को तो उसने तन-मन-धन से जीत लिया है।

रति के समय राधा की सुन्दरता और भी अधिक आकर्षक हो

उठती है। फिर तो वह उपमाओं के घेरे के बीच भी नहीं समा पाती। इसीलिए इस समय की उसकी शोभा का वर्णन करते हुए सूरदास ने उपमाओं का ढेर-सा लगा दिया है; मगर उनका मन तृप्त हुआ नहीं जान पड़ता। अति सूक्ष्म कटि, विशद नितम्ब और भारी पयोधर वाली सुकुमारी राधा जब कन्दुक-क्रीड़ा करती है तो उसका चंचल अंचल खिसक जाता है और फटी कंचुकी के बीच सटे हुए कुच दिखलाई दे जाते हैं—तो ऐसा जान पड़ता है, मानो नव-जलद ने विधु को अपना बन्धु बना लिया है और नभ में अनि-यारी कला का उदय हो आया है। तो चम्पक और कनक उसके कलेवर की समता करने में असमर्थ हैं। शशि उसके शरीर की बराबरी नहीं कर सकता। उसके नयनों ने मृग, मीन आदि सभी को परास्त कर दिया है। उसकी कुटिल भृकुटी धनुष धारण किए हुए कामदेव के समान शोभायमान है। उसका प्रत्येक अङ्ग सुन्दर है। उसके जिस अङ्ग पर भी दृष्टि पड़ जाती है, वह वहीं उलझकर रह जाती है। हटाये से भी नहीं हटती। उसका प्रत्येक अंग श्याम को सुख देने वाला है और वह उस सुख के रस के वश में हो गए हैं।

'सूरसागर' में राधा और कृष्ण के इस प्रेम-व्यापार का क्रमिक विकास हुआ है। इसीलिए किसी स्थान पर हमें राधा भोली, चंचल और चतुर दीख पड़ती है और कहीं चतुर गूढ़ और अतृप्त। फिर मानवती और गौरवमयी—तथा गम्भीर और परम वियो-गिनी। वास्तव में, जैसे-जैसे उसका प्रेम परिपक्व अवस्था को प्राप्त होता गया है, वैसे-वैसे उसके स्वभाव में भी परिवर्त्तन हुआ है और परिस्थितियों के कारण उसकी विरह-वेदना भी बढ़ी है। मगर उसके चरित्र की यह विशेषता है कि संयोग और वियोग की सभी अवस्थाओं में वह उनकी पराकाष्ठा तक पहुंच सकी है। जैसे-जैसे उसका प्रेम अपने पथ पर आगे बढ़ा है, वैसे ही वैसे उसका रूप गम्भीर होता गया है और उसकी चतुराई गूढ़ बनती चली गई

है। उसकी इच्छा है कि वह माता-पिता और संसार के डर को एकवारगी ही त्याग दे और कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को उन्मुक्त वातावरण में पलने दे; मगर उसके प्रियतम कृष्ण यह नहीं चाहते—तो, उनकी आज्ञा के सम्मुख वह अपना शीश झुका देती है। फिर, वह माता-पिता और संसार के लोगों को गूढ़ और गंभीर चतुराई से परास्त कर देती है। साथ ही वह अपने प्राणप्यारे से मिलने के लिए भी अनेक उपाय खोज निकालती है। 'गुण भरी' राधा की चतुराई सफल है। उसकी चतुराई में फँसकर अन्त में उसकी माता तो राधा-कृष्ण-विषयक इस अपवाद को अपने मन में झूँठ ही समझने लगती है। अपनी सखियों के सम्मुख भी वह ऐसा भाव प्रदर्शित करती है, जैसे वह कृष्ण को जानती ही न हो। वह जानती है, उसकी सखी गोपियाँ भी उसी पथ की अनुगामिनी हैं, जिस पथ पर वह आगे बढ़ रही है; मगर वह नहीं चाहती कि कृष्ण के प्रति उसकी प्रीति की बात को कोई जाने। हालाँकि, उसका अनुराग रस छिपाये से भी नहीं छिप पाता; मगर तब भी वह अपने मुख से कभी भी 'हाँ' नहीं करती। कोई सखी इस सम्बन्ध में कुछ पूछती है तो उस समय वह ऐसी ऊट-पटाँग बातें बनाने लगती है कि इस सम्बन्ध में उसकी सखी का भी विश्वास डिग जाता है। तब, वह बहुत ही गम्भीर होकर प्रश्न करने वाली सखी से पूछती है—श्याम कौन हैं? वह कैसे रंग के हैं—काले हैं या गोरे? और उसकी ऐसी बातें सुनकर सखी चुप होकर रह जाती है। मगर इस बात को उसकी सभी सखियाँ भली प्रकार से समझती हैं—राधा और कृष्ण एक हैं; मगर इस सत्य को हमसे छिपाते हैं। इस तरह इस प्रसंग के 'सूरसागर' में अनेक चित्र हैं।

वैसे सूरदास की दृष्टि में राधा अपने रूप, अपनी विनोदप्रियता और प्रेम से कृष्ण को वश में करने वाली है; मगर ज्यों ज्यों उसका मिलन-सुख बढ़ता जाता है—त्यों-त्यों उसकी अतृप्ति भी

बढ़ती जाती है। वास्तव में, लोक-लाज और माता-पिता के डर के कारण संयोग का अवसर उसे अनेक प्रकार की कठिनाइयों और लम्बे व्यवधानके पश्चात् प्राप्त होता है—और इस प्रकार वह अपने प्रियतम से कुछ ही क्षणोंके लिये मिल पाती है, जिससे उसके प्रेम की प्यास नहीं बुझ पाती। साथ ही वह इस बात से भी सशङ्कित हो उठती है कि कृष्ण अनेक नायिकाओं के नायक हैं। और इस प्रकार प्रेम में विभोर हुई राधा बराबर अतृप्ति का ही अनुभव करती है। उसके इस रूप का वर्णन सूरदास ने अतृप्त परकीया के रूप में किया है।

मगर मानवती और गौरवमयी राधा का वर्णन 'सूरसागर' में स्वकीया के रूप में हुआ है। वास्तव में, कृष्ण का वियोग, राधा विनोद के समय में भी सहन करने में असमर्थ है; मगर परिस्थिति के वशीभूत हो उसे अपने उसी प्रियतम से मान भी करना पड़ता है। सूरदास ने राधा के मान का चार बार वर्णन किया है। और उसके इस चार बार के मान में कवि ने उसके प्रेम की चार अवस्थाओं को लिपिबद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। प्रथम मान के समय उसका प्रेम आरम्भिक अवस्था का-सा प्रेम जान पड़ता है। कृष्ण को वश में कर लेने की बात कहकर उसकी सखियाँ उसकी प्रशंसा करती हैं—तो, राधा का हृदय गर्व से फूल उठता है; मगर उसके इस मान के कारण जब कृष्ण उसके पास आकर लौट जाते हैं तो उसका मान भंग हो जाता है और वह अपने दोष का स्मरण कर पछताने लगती है। वह विह्वल हो जाती है। वह सोचती है, मुझ जैसी कोटि स्त्रियों के श्याम नायक हैं—तो, वह मेरी क्यों चिन्ता करेंगे। मगर जब ललिता नाम की स्त्री दूती के रूप में कृष्ण को मनाकर राधा के पास ले आती है और श्याम उसे हृदय से लगाकर उसके सन्ताप को दूर कर देते हैं तो वह स्वयं को सुखी अनुभव करने लगती है।

दूसरी बार के मान के अवसर पर वह गौरवमयी मानवती के रूप

में चित्रित हुई है। कृष्ण के वक्ष पर स्थित आभूषण में वह अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर भ्रमवश किसी अन्य स्त्री को हृदयस्थ कर लेने की कल्पना कर मान करती है। कृष्ण उसे मनाते हैं; मगर वह नहीं मानती—तो कृष्ण दूती भेजकर उससे कहलवाते हैं—राधा तुम कितना ही मान करो; लेकिन अन्त में तुम और मोहन एक होकर ही रहोगे—तो, 'मोहन' शब्द के स्मरण-मात्र से ही वह फूली नहीं समाती है।

उसका तीसरा मान उसके विश्वास पर आघात लगने के कारण है। और चौथा तथा सबसे बड़ा मान भी इसीलिए है। एक दिन प्रातःकाल राधा ने कृष्ण को किसी अन्य स्त्री के घर से निकलते हुए अपनी आँखों से देखा और अपने तीखे नयन-बाणकी सहायता से कृष्ण के हृदय को बींध डाला। फिर उसने कृष्ण के द्वारा अनेक उपाय करने पर भी अपने मान को नहीं छोड़ा। जब सारे उपाय बेकार हो गए तो श्याम स्वयं दूती का रूप धारण कर उसे मनाने के लिए उसके समीप पहुंचे, मगर राधा न मानीं। तब अन्त में उन्होंने एक उपाय सोचा—उन्होंने मणि जटित एक दर्पण उसके सम्मुख रख दिया और आप स्वयं उसके पीछे खड़े हो गए। इस प्रकार दोनों के नयन मिले और राधा के अनियारे नेत्रों में सूक्ष्म सी मुस्कराहट खिल उठी—कृष्ण का मुख भी हँस पड़ा और राधा को विश्वास हो गया कि श्याम पर उसका गहरा प्रभाव है। उसने मान को विसार दिया।

साथ ही अब उसे यह भी विश्वास हो गया—कोटि स्त्रियाँ भी बहुनायक कृष्ण के प्रेम से उसे वंचित नहीं कर सकतीं। वास्तव में, इस प्रकार मान कर वह अपने प्रियतम श्याम को भली प्रकार से समझने और उन्हें अपने अधिक समीप ले आने में समर्थ हुई है। मानिनी के रूप में राधा गौरवशालिनी है। उसमें प्रेमिका के गौरव और गम्भीरता के दर्शन होते हैं। कृष्ण पर उसका एकाधिकार लक्षित होता है। अब उसके प्रेम का रूप भी बदला हुआ जान

पड़ता है। मानो, अब उसका प्रेम परिपक्क अवस्था का प्रेम है, जिसमें अधीरता के स्थान पर गम्भीरता अपनी जगह ले चुकी है— इसीलिए अब उसमें व्यग्रता और आतुरता नहीं है।

कृष्ण के प्रति राधा का प्रेम वास्तविक और सत्य है। इस बात को सूरदास ने वियोगिनी राधा का चित्र चित्रित करते समय बड़ी सावधानी के साथ अंकित किया है। वास्तव में, गूढ़, गम्भीर और परम वियोगिनी राधा के सम्बन्ध में कवि ने बहुत ही कम कहने ा साहस किया है—क्योंकि उसकी इस अवस्था का वर्णन बहुत दुरूह है। श्याम मथुरा को गमन कर रहे हैं—सभी गोपियाँ ‘ लिखी-सी’ खड़ी उन्हें एकटक देख रही हैं, मगर राधा उनके बीच नहीं दीख पड़तीं। वह तो इस दृश्य को देख सकने में भी असमर्थ है— और कवि ने भी उसके इस भाव को उसे नेत्रों से ओझल कर व्यक्त करने का प्रयत्न किया है इसीलिए वियोगिनी राधा के चित्र ‘सूरसागर’ में बहुत ही कम हैं। उसकी इस अवस्था का प्रथम चित्र, जो हमें ‘सूरसागर’ में दीख पड़ता है—उसमें राधा बहुत ही गम्भीर और सोच में मग्न हुई चित्रित की गई है। सिर नीचा किये हुए वह नख से श्याम का चित्र बना रही है। उसकी उँगलियाँ हरि के एक-एक अङ्ग को अङ्कित करने में तल्लीन हैं और उसके नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लगी है। तभी, मार्ग पर एक पंथी को जाते हुए देख कर वह उसे बुला लेती है। बहुत आदर के साथ उसे बिठलाती है और चाहती है—इस पंथी के द्वारा अपनी सम्पूर्ण पीड़ा की कहानी वह श्याम के पास भेज दे; मगर असीम वेदना की बात उससे नहीं कही जाती। उसका कण्ठ गद्-गद् हो जाता है और हृदय भर आता है। फिर बहुत देरके पश्चात् वह स्वयं को स्थिर कर उस पंथी से कहती है—‘गोपी, गाय, ग्वाल’ की ‘दीन-मलीन’ और ‘दिन-दिन छीजने’ वाली देह पर भी दया कर के श्याम एक बार ब्रज आकर अपने चरण-कमलों की नौका की सहायता से ब्रज को डूबने से बचाने की कृपा करें अथवा एक बार

'पतियाँ' ही भेज दें। अपने इस सन्देशमें उसने विरह-ज्वर से जली हुई और काली पड़ गई कालिन्दी का भी जिक्र किया, मगर अपने पीड़ा के सम्बन्ध में वह कुछ भी न कह सकी।

इस प्रकार परम वियोगिनी राधा के इन कतिपय चित्रों में सूरदास ने उसकी विरह-वेदना का असीम रूप ही अंकित करने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक अगले चित्र में उसकी यह विरह-वेदना निरन्तर गूढ़ और गम्भीर ही होती चली गई है। यही कारण है, जो उद्धव ने उसे 'माधो-माधो' रटते हुए ही देखा है। अन्य गोपियों की भाँति वह उसके साथ तर्क करने के लिए उपस्थित नहीं हुई है।

और अन्त में राधा 'माधो माधो' रटते हुए कृष्ण-रूप हो गई। रुक्मिणी के भवन में होने वाली कृष्ण और राधा की अन्तिम भेंट वास्तव में उनका आध्यात्मिक मिलन है। अपनी इस भेंट के समय राधा-कृष्ण के रंग में और कृष्ण राधा के रंग में मिल कर एकाकार हो गये। और कृष्ण ने विहंसते हुये उससे कहा—हम दोनों में कोई अन्तर नहीं है— और इतना कह कर उसे व्रज के लिये विदा कर दिया। बेचारी राधा अपनी इस भेंट के समय कुछ कह भी न सकी।

करत कछु नाहीँ आजु बनी।
हरि आए हौं रही ठगी सी, जैसैं चित्र धनी॥
आसन हरषि हृदय नहिं दीन्हौ, कमल कुटी अपनी।
न्यौछावर उर, अरघ न नैननि, जलधारा जु बनी॥
कंचुकि तैं कुच कलस प्रगट ह्वै, टूटि न तरकि तनी।
अब उपजी अति लाज मनहिं मन, समझत निज करनी॥
मुख देखत न्यारी सी रहि गई, बिनु बुधि मति सजनी।
तदपि सूर मेरी यह जड़ता, मंगल माहिँ गनी॥४२६३॥

—'सूरसागर'-दशम स्कंध (द्वितीय खंड) का. ना. प्र० सभा

वास्तव में राधा के चरित्र की सब से बड़ी विशेषता है—सर्वस्व

समर्पण ! इसीलिये वह कृष्ण के रूप में मिलकर एकाकार हो गई है।

६—गोपी

भगवान् श्रीकृष्ण के समय में वैसे तो ब्रज-प्रदेश की समस्त नारियाँ हीं गोपी कहलाती थीं; मगर 'सूरसागर' में गोपी शब्द केवल उन अल्हड़ कुमारियों के लिए ही प्रयोग हुआ है, जो श्रीकृष्ण से प्रेम का नाता मानती थीं। कहा जाता है, इन गोपियों की संख्या ग्यारह हजार थी; मगर 'सूरसागर' के कवि ने इनकी संख्या के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है, लेकिन वर्णन से यह जरूर ज्ञात होता है कि वे अनेक हैं, जिनके चरित्र का चित्रण सूरदास ने सामूहिक रूप से किया है। इनमें से दो चार के नाम भी उन्होंने गिनाये हैं—और वे हैं--चन्द्रावली, ललिता और विशाखा ! राधा भी इन अनेक गोपियों में से ही एक हैं।

वास्तव में, जैसे ही नन्द महर के घर में कृष्ण के प्रगट होने की बात ब्रज में फैलती है, वैसे ही गोपियों के द्वारा गाये जाने वाले मंगलाचरण के गीत हमें सुनाई पड़ने लगते हैं--और इसी स्थान से उनके चरित्र का चित्रण कवि प्रारम्भ कर देता है। हो सकता है, यह केवल प्रौढ़ गोपियों का ही आनन्दोल्लास हो; मगर कृष्ण की विविध लीलाओं में भाग लेने वाली गोपियाँ अल्हड़ किशोरियाँ हैं। जो हमें समूचे दशम स्कंध में दृष्टिगोचर होती हैं—और ये ही वे गोपियाँ हैं, जो काम के वशीभूत हो कृष्ण को प्रियतम के रूप में प्रेम करती हैं।

कृष्ण के प्रति इन गोपियों का प्रेम-भाव उनके बालपन से ही प्रारम्भ हो जाता है। माखन चोर कृष्ण बालक है; मगर गोपियाँ काम के वशीभूत हो उन्हें विमुग्ध दृष्टि से देखती हैं। वह नन्हें से कृष्ण से अंग स्पर्श होने पर ऐसे सुख का अनुभव करती हैं, जो काम-जनित है। इसीलिए कृष्ण की प्रत्येक लीला का प्रभाव उन पर

अपने अधिकतम रूप में होता है और वे कृष्ण के सम्मुख अन्य सभी को नगण्य समझती हैं। जब बालक कृष्ण किशोरावस्था को प्राप्त होते हैं—तो, उनके इस प्रेम-व्यापार में एक ज्वार-सा आ जाता है और कृष्ण भी उन गोपियों के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करने में कुछ उठा नहीं रखते। मानो, अपनी किशोरावस्था में हीं वह काम कला के मर्मज्ञ हैं।

और अपनी इस ओर की इस कुशलता का परिचय कृष्ण प्रथम अवसर 'चीर-हरण लीला' के प्रसंगमें ही भली भाँति दे सकने में समर्थ होते हैं-- उन कुमारी किशोरियों को जल के भीतर पीठ मींजकर तथा अपने सम्मुख निपट नग्न रूप में आने के लिये उन गोपियों को बाध्य कर के! मगर इसके विपरीत गोपियाँ नारी सुलभ लज्जा का प्रदर्शन कर तथा यशोदा से कृष्ण की इस ढिठाई के संबंध में शिकायत कर के अपनी सरलता और अनभिज्ञता ी प्रदर्शित करती हैं।

मगर चीर-हरण प्रसंग की ये गोपियाँ पनघट लीला के अवसर पर प्रेम मार्ग की चतुरता पूर्ण चालों का प्रदर्शन करती हैं। उनमें प्रगल्भता का विकास हुआ जान पड़ता है-- साथ ही संकोच की भावना भी उनमें बहुत कम लक्षित होती है। मानो, प्रेम के मार्ग पर आगे बढ़ चलने में वे समर्थ होती जा रही हैं। कृष्ण की 'लंग-राई' और 'अचगरी' के कारण उन्हें जमना तट पर जाने में भय और संकोच का अनुभव तो होता है; मगर जब कृष्ण, ग्वालिन के शीश पर रक्खे भरे घट को पीछे से आकर फैला देते हैं तो वह ग्वालिन भी बड़ी-चतुराई से उनके हाथ को पकड़ लेती है। उनकी 'कनक लकुटिया' को छीन लेती है-- और उनसे अनुरोध के स्वर में कहती है—लकुटिया मैं तब दूँगी जब मेरा खाली घट भर दोगे। नन्द महर बड़े हैं तो क्या हुआ; मगर हमें भी वृषभानु की आन है, हम सब मिल कर तुम्हारी बराबरी कर सकती हैं। एक गाँव में रहते हैं तो मैं तुमसे डरूँगी नहीं। तुम एक कहोगे तो मैं

भी उसका जवाब दूँगी।

फिर, वे सब मिलकर उन पर ठगी का लाँछन लगाती हैं और यशोदा से जाकर शिकायत करती हैं। मगर इसका प्रमाण माँगने पर वे कहती हैं--अपनी मृदुल मुस्कान से कृष्ण हमारा मन चुराते हैं। 'नैन-सैन' देकर चलते हैं। और गोपियों की इस प्रकार की ये बातें ही कृष्ण के प्रति उनके उत्कट प्रेम की द्योतक हैं। और अन्त में उनका यह प्रेम इतना अधिक विकसित होता है कि उसकी तीव्रता के सम्मुख वे लोक लाज, कुल की आनि सब को त्याग कर ।-रूपेण प्रेम के मार्ग पर आगे बढ़ चलती हैं।

बातें बना लेने की चतुराई भी उनमें खूब विकसित हो जाती है। दान लीला के समय और उद्धव गोपी-मिलन के अवसर पर उनका यह वाक् चातुर्य दर्शनीय है। 'सूरसागर' के कवि ने दान लीला के प्रसंग में ऐसे अनेक शब्द-चित्र अंकित किये हैं, जिनमें गोपियाँ कृष्ण को बराबर जवाब देती दिखलाई गई हैं। कृष्ण एक बात कहते हैं तो गोपियाँ चार! कृष्ण बोले--ब्रजनारियों! मुझ से सुनो, संसार में यह बात प्रसिद्ध है, बालक और स्त्री को कभी मुँह नहीं लगाना चाहिये— क्योंकि मुँह लगे हुये ये दोनों जो मन में आता है, सो कर डालते हैं। और कृष्ण की इस बात को सुनकर गोपियों के मन में आया—क्या कृष्ण हमको केवल छाछ बेचने वाली ही समझते हैं? और वे कहने लगीं--कृष्ण सुनो, यह हम जानती हैं, तुम नन्द महर के सुत हो। खरिक में हम कभी गईं हैं तो हमने तुमको गाय दुहते हुये देखा है। हम यह भी जानती हैं, तुम घर घर चोरी करते हुये भी फिरते हो--और अब मार्ग रोक कर धन माँगते हो। मगर यह तो बतलाओ, अपने वे तुमने ढंग कबसे छोड़ दिए हैं-लेकिन और सुनो, जसुमात न जब तुमको बाँध दिया था तो हमने ही तुम्हारी सहायता की थी। हम यह भी जानती हैं, तुम ब्रज में रहते हो—तुम्हारा नाम कन्हाई है। वास्तव में, कृष्ण के साथ इस प्रकार के बे मतलब तर्क करने में गोपियों को

आनन्द का अनुभव होता है।

गोपियाँ भावना-जगत की साक्षात् प्रतिमाएँ हैं । कृष्ण के प्रति उनका प्रेम भावना-प्रधान है । और अपनी प्रेम-भावना के वशीभूत होकर ही वे उद्धव की बुद्धि-पक्ष की ज्ञान भरी बातों की ओर लेश-मात्र भी ध्यान न देकर उन्हें हँसी में उड़ा देती हैं। साथ ही वाक् चातुर्य की सहायता से उसके सम्मुख वे ऐसी बातें बनाती हैं कि अन्त में उद्धव उनके भावना-पक्ष का ही समर्थक बन जाता है। इस प्रकार सरल और दृढ़विश्वास की विजय होती है बुद्धि और ज्ञान की पराजय। वास्तव में भावना हृदय की पवित्रता है और ज्ञान मस्तिष्क की कला। पवित्र कला भी है; मगर व्यवहार में आते आते उसका रूप कुरूप भी हो जाता है । इसीलिए उद्धव पवित्र भावना की श्रेष्ठता को स्वीकार कर सकने में समर्थ हुआ है।

सहज रूपवती गोपियाँ विविध प्रकार के शृंगार की सहायता से स्वयँ को और भी अधिक आकर्षक बना लेने में भी प्रवीण है। शृङ्गार धारण की हुई गोपियों के सूरदास ने अनेक चित्र अङ्कित हैं; मगर जब गोपियों का प्रेम अपनी सीमा को हस्तगत करने में समर्थ हो जाता है तो उनको फिर इस शृङ्गार की आवश्यकता नहीं रह जाती—क्योंकि यह उनके प्रेम की न्यूनता का परिचायक है। सूरदास कहते हैं—फिर तो वे कृष्ण की मुरली का स्वर सुनते ही जैसी की तैसी ही भाग छूटती हैं । इसीलिये रासलीला की गोपियाँ हमें प्रेमातुर, आनन्दमयी और कृष्ण-प्रेम में मदमाती सी दृष्टिगोचर होती हैं । साथ ही रासलीला में सम्मिलित होने वाली गोपियाँ विवाहित और अविवाहित दोनों ही प्रकार की हैं । इसलिये कृष्ण विवाहित गोपियों को उपदेश देते हुए पति को परमेश्वर के समान समझ कर उनकी पूजा करने की बात कहते हैं। मगर गोपियाँ कृष्ण-प्रेम के सम्मुख पति, पुत्र, माता, पिता आदि सभी को नगण्य समझती हैं। वास्तव में कृष्ण के प्रति उनका प्रेम अब उस अवस्था पर पहुंच गया है, जहाँ सांसारिक इन नाते रिश्तों का कोई भय नहीं

भी उसका जवाब दूँगी।

फिर, वे सब मिलकर उन पर ठगी का लाँछन लगाती हैं और यशोदा से जाकर शिकायत करती हैं। मगर इसका प्रमाण माँगने पर वे कहती हैं--अपनी मृदुल मुस्कान से कृष्ण हमारा मन चुराते हैं। 'नैन-सैन' देकर चलते हैं। और गोपियों की इस प्रकार की ये बातें ही कृष्ण के प्रति उनके उत्कट प्रेम की द्योतक हैं। और अन्त में उनका यह प्रेम इतना अधिक विकसित होता है कि उसकी तीव्रता के सम्मुख वे लोक लाज, कुल की आनि सब को त्याग कर -रूपेण प्रेम के मार्ग पर आगे बढ़ चलती हैं।

बातें बना लेने की चतुराई भी उनमें खूब विकसित हो जाती है। दान लीला के समय और उद्धव गोपी-मिलन के अवसर पर उनका यह वाक् चातुर्य दर्शनीय है। 'सूरसागर' के कवि ने दान लीला के प्रसंग में ऐसे अनेक शब्द-चित्र अंकित किये हैं, जिनमें गोपियाँ कृष्ण को बराबर जवाब देती दिखलाई गई हैं। कृष्ण एक बात कहते हैं तो गोपियाँ चार! कृष्ण बोले--व्रजनारियों! मुझ से सुनो, संसार में यह बात प्रसिद्ध है, बालक और स्त्री को कभी मुँह नहीं लगाना चाहिये--क्योंकि मुँह लगे हुये ये दोनों जो मन में आता है, सो कर डालते हैं। और कृष्ण की इस बात को सुनकर गोपियों के मन में आया--क्या कृष्ण हमको केवल छाछ बेचने वाली ही समझते हैं? और वे कहने लगीं--कृष्ण सुनो, यह हम जानती हैं, तुम नन्द महर के सुत हो। खरिक में हम कभी गईं हैं तो हमने तुमको गाय दुहते हुये देखा है। हम यह भी जानती हैं, तुम घर घर चोरी करते हुये भी फिरते हो--और अब मार्ग रोक कर धन माँगते हो। मगर यह तो बतलाओ, अपने वे तुमने ढंग कबसे छोड़ दिए हैं-लेकिन और सुनो, जसुमात न जब तुमको बाँध दिया था तो हमने ही तुम्हारी सहायता की थी। हम यह भी जानती हैं, तुम ब्रज में रहते हो--तुम्हारा नाम कन्हाई है। वास्तव में, कृष्ण के साथ इस प्रकार के बे मतलब तर्क करने में गोपियों को

आनन्द का अनुभव होता है।

गोपियाँ भावना-जगत की साक्षात् प्रतिमाएँ हैं। कृष्ण के प्रति उनका प्रेम भावना-प्रधान है। और अपनी प्रेम-भावना के वशीभूत होकर ही वे उद्धव की बुद्धि-पक्ष की ज्ञान भरी बातों की ओर लेश-मात्र भी ध्यान न देकर उन्हें हँसी में उड़ा देती हैं। साथ ही वाक् चातुर्य की सहायता से उसके सम्मुख वे ऐसी बातें बनाती हैं कि अन्त में उद्धव उनके भावना-पक्ष का ही समर्थक बन जाता है। इस प्रकार सरल और दृढ़विश्वास की विजय होती है बुद्धि और ज्ञान की पराजय। वास्तव में भावना हृदय की पवित्रता है और ज्ञान मस्तिष्क की कला। पवित्र कला भी है; मगर व्यवहार में आते आते उसका रूप कुरूप भी हो जाता है। इसीलिए उद्धव पवित्र भावना की श्रेष्ठता को स्वीकार कर सकने में समर्थ हुआ है।

सहज रूपवती गोपियाँ विविध प्रकार के शृंगार की सहायता से स्वयँ को और भी अधिक आकर्षक बना लेने में भी प्रवीण है। शृङ्गार धारण की हुई गोपियों के सूरदास ने अनेक चित्र अङ्कित हैं; मगर जब गोपियों का प्रेम अपनी सीमा को हस्तगत करने में समर्थ हो जाता है तो उनको फिर इस शृङ्गार की आवश्यकता नहीं रह जाती—क्योंकि यह उनके प्रेम की न्यूनता का परिचायक है। सूरदास कहते हैं—फिर तो वे कृष्ण की मुरली का स्वर सुनते ही जैसी की तैसी हो भाग छूटती हैं। इसीलिये रासलीला की गोपियाँ हमें प्रेमातुर, आनन्दमयी और कृष्ण-प्रेम में मदमाती सी दृष्टिगोचर होती हैं। साथ ही रासलीला में सम्मिलित होने वाली गोपियाँ विवाहित और अविवाहित दोनों ही प्रकार की हैं। इसलिये कृष्ण विवाहित गोपियों को उपदेश देते हुए पति को परमेश्वर के समान समझ कर उनकी पूजा करने की बात कहते हैं। मगर गोपियाँ कृष्ण-प्रेम के सम्मुख पति, पुत्र, माता, पिता आदि सभी को नगण्य समझती हैं। वास्तव में कृष्ण के प्रति उनका प्रेम अब उस अवस्था पर पहुंच गया है, जहाँ सांसारिक इन नाते रिश्तों का कोई भय नहीं

सताता और न इन बातों की चिन्ता ही रहती है।

यही कारण है जो वसंत-लीला की गोपियाँ मर्यादा-हीन हुई-सी जान पड़ती हैं। इस लीला के समय उनकी चंचलता, और प्रगल्भता इतनी अधिक बढ़ गई है कि उनमें निर्लज्जता का विकास हुआ दीख पड़ता है। दस-पाँच सखियाँ मिलकर कृष्ण और बलराम को पकड़ उठा लाती हैं और उन पर अरगजा और अबीर डाल देती हैं। संकोच का त्याग कर मनमानी गालियाँ देती हैं मानो, आज मद-माती' 'रंगभीजी' गोपियों को लिहाज और शर्म बिल्कुल भी नहीं है। कृष्ण थोड़ा सकुचाते हैं, मगर गोपियों के मन में ऐसी कोई भी बात नहीं है। वे तो 'रङ्गभीजे' श्याम के साथ आज मस्त हैं। इसी बीच में उनके केश खुल पड़ते हैं। कंचुकी के बन्द टूट जाते हैं। वे कृष्ण को राधा के वस्त्र और आभूषणों से सजा देती हैं और उन्हें राधा के चरण छूने के लिए विवश करती हैं। वास्तव में इस समय वे पूर्णरूपेण स्वच्छन्द है। इसीलिये मर्यादा का पालन करने वाले गुरुजनों की दुर्दशा करने में भी वे नहीं चूकतीं। मानो, संयोगा-वस्था में मिलन का सुख अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुंचा है।

मगर वियोगावस्था में उनमें दुख की तीव्रता अनेक उक्तियों के द्वारा प्रकट होती है। कृष्ण से वियोग होने पर जहाँ राधा मौन रह कर उस कठिन कठोर दुख को सहन करती हैं, वहाँ गोपियाँ तरह-तरह की बातें कहकर कभी स्वयँ को कोसती है और कभी 'माधो [illegible] मित्राई' की निन्दा करने में संतोष का अनुभव करती हैं।

मुँह पर है। वहाँ दुराव नहीं, छल नहीं। कृष्ण मथुरा चल देते हैं और सरल-हृदय गोपियाँ चित्र-लिखी-सी खड़ी रह जाती हैं। कृष्ण का रथ दूर निकल जाता है, मगर उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि उन्हें वियोग का दुख भी सहना पड़ेगा। उद्धव व्रज के निकट आते हैं तो उनके सरल हृदय का विश्वास उनसे यही कहता है—श्याम लौट आए—और वे आतुर नन्द महर के घर की ओर चल देती हैं। उनके हृदय में कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम है और उन्हें देख लेने की भारी उत्सुकता! इसीलिए उनमें सरलता और निश्छलता का भांडार भरा है। वे भावना-प्रधान हैं और वाचाल भी।

७—गोप

गोपियों की भाँति कृष्ण के साथ में गोप भी अनेक हैं। उनमें से कुछ वृद्ध हैं और कुछ युवा तथा कुछ किशोर! वृद्ध या प्रौढ़ गोप कृष्ण को वात्सल्य भाव से भजते हैं तथा युवा और किशोर सख्य भाव से उनकी लीलाओं में सम्मिलित होते हैं। 'सूरसागर' में कहा गया है कि ये सभी गोप देवताओं के अवतार हैं। भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं में भाग लेने के लिए ही इनका जन्म हुआ है और इसी रूप में इनका नर-देह सार्थक है। इसीलिए वास्तव में ये सभी गोप कृष्ण के भक्त हैं। यही कारण है, जो कृष्ण के अलौकिक चरित्रों को देख देख कर उनकी भक्ति-भावना उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हुई है। कृष्ण ने अनेक राक्षसों का वध किया। गोवर्धन लीला के प्रसंग में उन्होंने इन्द्र को भी पराजित कर दिया—और यह देख कर गोपों की भक्ति-भावना उनके प्रति दृढ़ से दृढ़तर हो गई।

किशोर गोपों के बीच श्रीदामा और सुबल कृष्ण के बराबर के साथी हैं। श्रीदामा की तो कृष्ण के साथ हर बात में होड़ है और कृष्ण भी अपने इस प्रतिद्वन्द्वी मित्र की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के निमित्त सहर्ष सब कुछ करने के लिए सर्वदा तत्पर रहते हैं। कालिया-मर्दन की लीला का मुख्य कारण श्रीदामा की जिद ही है—

सताता और न इन बातों की चिन्ता ही रहती है।

यही कारण है जो वसंत-लीला की गोपियाँ मर्यादा-हीन हुई-सी जान पड़ती हैं। इस लीला के समय उनकी चंचलता, और प्रगल्भता इतनी अधिक बढ़ गई है कि उनमें निर्लज्जता का विकास हुआ दीख पड़ता है। दस-पाँच सखियाँ मिलकर कृष्ण और बलराम को पकड़ कर उठा लाती हैं और उन पर अरगजा और अबीर डाल देती हैं। संकोच का त्याग कर मनमानी गालियाँ देती हैं मानो, आज मद-माती' 'रंगभीजी' गोपियों को लिहाज और शर्म बिल्कुल भी नहीं है। कृष्ण थोड़ा सकुचाते हैं, मगर गोपियों के मन में ऐसी कोई भी बात नहीं है। वे तो 'रङ्गभीजे' श्याम के साथ आज मस्त हैं। इसी बीच में उनके केश खुल पड़ते हैं। कंचुकी के बन्द टूट जाते हैं। वे कृष्ण को राधा के वस्त्र और आभूषणों से सजा देती हैं और उन्हें राधा के चरण छूने के लिए विवश करती हैं। वास्तव में इस समय वे पूर्णरूपेण स्वच्छन्द हैं। इसीलिये मर्यादा का पालन करने वाले गुरुजनों की दुर्दशा करने में भी वे नहीं चूकतीं। मानो, संयोगा-वस्था में मिलन का सुख अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुंचा है।

मगर वियोगावस्था में उनमें दुख की तीव्रता अनेक उक्तियों के द्वारा प्रकट होती है। कृष्ण से वियोग होने पर जहाँ राधा मौन रह कर उस कठिन कठोर दुख को सहन करती हैं, वहाँ गोपियाँ तरह-तरह की बातें कहकर कभी स्वयँ को कोसती हैं और कभी 'माधो की मित्राई' की निन्दा करने में संतोष का अनुभव करती हैं। कभी उनका दुखी हृदय प्राकृतिक वस्तुओं के साथ मिलकर एक हो जाता है और कभी वह प्रकृति को ही कोसने लगता है। कभी कृष्ण प्रीति के सम्मुख उन्हें कुछ भी नहीं सुहाता और उद्धव की ज्ञान-भरी बातें भी उन्हें सार-हीन प्रतीत होती हैं।

वास्तव में गोपियाँ सरल-स्वभाव और पवित्र-हृदय हैं। बोलने में चतुर हैं, इसलिये हृदयगत भाव बराबर और अनायास ही उनके ओंठों के पार होते हैं। जो कुछ उनके हृदय में है, वह उनके

मुँह पर है। वहाँ दुराव नहीं, छल नहीं। कृष्ण मथुरा चल देते हैं और सरल-हृदय गोपियाँ चित्र-लिखी-सी खड़ी रह जाती हैं। कृष्ण का रथ दूर निकल जाता है, मगर उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि उन्हें वियोग का दुख भी सहना पड़ेगा। उद्धव व्रज के निकट आते हैं तो उनके सरल हृदय का विश्वास उनसे यही कहता है—श्याम लौट आए—और वे आतुर नन्द महर के घर की ओर चल देती हैं। उनके हृदय में कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम है और उन्हें देख लेने को भारी उत्सुकता ! इसीलिए उनमें सरलता और निश्छलता का भांडार भरा है। वे भावना-प्रधान है और वाचाल भी।

७—गोप

गोपियों की भाँति कृष्ण के साथ में गोप भी अनेक हैं। उनमें से कुछ वृद्ध हैं और कुछ युवा तथा कुछ किशोर ! वृद्ध या प्रौढ़ गोप कृष्ण को वात्सल्य भाव से भजते हैं तथा युवा और किशोर सख्य भाव से उनकी लीलाओं में सम्मिलित होते हैं। 'सूरसागर' में कहा गया है कि ये सभी गोप देवताओं के अवतार हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं में भाग लेने के लिए ही इनका जन्म हुआ है और इसी रूप में इनका नर-देह सार्थक है। इसीलिए वास्तव में ये सभी गोप कृष्ण के भक्त हैं। यही कारण है, जो कृष्ण के अलौकिक चरित्रों को देख देख कर उनकी भक्ति-भावना उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हुई है। कृष्ण ने अनेक राक्षसों का वध किया। गोवर्धन लीला के प्रसग में उन्होंने इन्द्र को भी पराजित कर दिया—और यह देख कर गोपों की भक्ति-भावना उनके प्रति दृढ़ से दृढ़तर हो गई।

किशोर गोपों के बीच श्रीदामा और सुबल कृष्ण के बराबर के साथी है। श्रीदामा की तो कृष्ण के साथ हर बात में होड़ है और कृष्ण भी अपने इस प्रतिद्वन्दी मित्र की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के निमित्त सहर्ष सब कुछ करने के लिए सर्वदा तत्पर रहते हैं। कालिया-मर्दन की लीला का मुख्य कारण श्रीदामा की जिद ही है–

फेंट पकड़कर वह बोला, तुम्हारी यह ढिठाई मेरे साथ नहीं चलेगी तुमने जान बूझ कर मेरी गेंद गिराई है, अब देते ही बनेगी।........ क्या हम तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते। हम से तो 'सतर' होते थे। कंस को कमल दो अन्यथा पता चल जायगा। और उसकी इस बात को सुन कर कृष्ण ने क्रोध कर अपनी फेंट छुटाली। वह दौड़कर कदम्ब पर चढ़ गए और 'भहरा' कर कालियदह में कूद पड़े। मगर सभी सखा हा-हाकार कर उठे।

इस प्रकार प्रसंगवश दो एक चित्र हम जरूर इस तरह के देखते हैं, मगर वैसे गोपियों की भाँति गोपों का भी सूरदास ने सामूहिक रूप से ही चरित्र-चित्रण किया है। और बालकों के इस चित्रण में; बालक कृष्ण के चरित्र का चित्रण हुआ है—न कि गोप बालकों का! इसलिए गोप-बालकों को बालक कृष्ण के चरित्र का एक अङ्ग समझना उचित जान पड़ता है। तो सत्य यह है, बालक कृष्ण के चरित्र की वास्तविकता को अङ्कित करने के लिये ही सूर-दास ने अनेक गोप-बालकों की सृष्टी को स्वीकार किया है, जिनके मनुष्य-जीवन की सार्थकता ही इसमें है कि वे कृष्ण के बाल-चरित्र के विकसित होने में सहायक हों। वास्तव में गोप-बालकों के कारण ये बालक कृष्ण की मोद-प्रियता, सरलता, अबोधता, चंच-लता, स्नेह, दोष, अधैर्य आदि बाल-जीवन के अनेक गुण प्राकृतिक और स्वाभाविक रूप में विकसित हुए हैं।

८—उद्धव

कृष्ण के मथुरा नगरी के निवास काल में उद्धव उनके निकट-तम साथी हैं। वह योगाभ्यासी पण्डित हैं और उन्हें अपने ज्ञान का बहुत गर्व है। कृष्ण को चिन्ता होती है, साथी भी मिला तो ज्ञान मार्ग का पथिक, प्रेम के मार्ग से बहुत दूर, शून्य-हृदय और भावना हीन! ब्रह्म के निर्गुण रूप में उसका विश्वास है, उसके सगुण रूप में वह अधिक आस्था नहीं रखता। इसीलिए कृष्ण अपने सखा उद्धव को 'भुरंग' और 'निपट जोगी जंग' कह कर पुकारते हैं।

मगर यह जानते हुए भी कि उनका मित्र विरोधी विचारों का है, वह उद्धव से, एक दिन, व्रज और गोपियों के सम्बन्ध में बातें करने लगते हैं--और उद्धव अपने ज्ञान के घमंड में उनकी बातों पर केवल मुस्करा-भर देते हैं। इसी प्रसंग में कृष्ण के मुख से अपनी प्रशंसा सुनते हैं तो अभिमान के कारण फूल जाते हैं—मगर साथ ही प्रसन्न होकर गोकुल जाना स्वीकार कर लेते हैं।

उद्धव व्रज में आते हैं और कृष्ण का पत्र गोपियों को दे देते हैं। वह अपना संदेश भी उन्हें सुनाते हैं; मगर उनके इस संदेश के बदले में जो-कुछ भी गोपियों से उन्हें सुनने को मिलता है—उसकी उनके मस्तिष्क और हृदय पर गहरी छाप लगती है। 'सूर-सागर' में प्रसिद्ध भ्रमरगीत के पद इसी प्रसग के हैं। गोपियाँ उनके ज्ञान की खासी हँसी उड़ाती हैं और उन्हें इस योग्य भी नहीं सम· झतीं कि वे उनसे अपने प्रेम की बात कहें। मगर इसके विपरीत उद्धव के मन पर गोपियों के अनंत और अक्षुण विरह का अमिट प्रभाव पड़ता है और वह भी गोप-गोपियों की भाँति कृष्ण के सगुण रूप के भक्त बन जाते हैं।

वास्तव में, 'भागवत' और 'सूरसागर' के उद्धव में यही अन्तर है। 'भागवत' में उद्धव विजयी हैं; मगर 'सूरसागर' में विजित। भला 'सूरसागर' के रचयिता भक्त-प्रवर सूरदास का हृदय इस बात को किस प्रकार स्वीकार कर सकता था कि 'सूरसागर' में कोई भी चरित्र ऐसा हो, जो कृष्ण का भक्त न हो। इसीलिये 'सूरसागर' के उद्धव को नन्द आदि की भाँति कृष्ण का भक्त बनना पड़ा है।

७

रसानुभूति और भाव-विस्तार

भाव ही रस की आधार-शिला हैं। इन भावों में जब मनुष्य तन्मय होकर देर तक उनका आस्वादन करता है, तभी रस की सृष्टि होती है। भाव भी अनेक हैं और रस भी। भरत मुनिने अपने नाट्य सूत्रों में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत—इस तरह आठ ही रसों को गिनाया है; मगर उनके बाद के आचार्यों ने शान्तरस का नाम गिनाकर इसप्रकार रसों की संख्या को नौ कर दिया है। यह हम बहुत पहिले ही कह आये हैं कि 'सूरसागर' रस से ओत-प्रोत एक भाव-प्रधान रचना है—इस-लिए सूक्ष्म रूप में हमारा यह कथन निर्विवाद सत्य है कि 'सूर-सागर' में लगभग सभी रस धारायें अपनी स्वाभाविक गति से बहती चली गई हैं। उसमें लगभग सभी रसों और सम्पूर्ण भावों का प्रकाशन हुआ है। मगर इन धाराओं में सब से बड़ी धाराएँ तीन हैं—और वे हैं, शान्त, वात्सल्य और शृंगार रस की धारायें। शान्तरस की धारा इनमें सब से बड़ी है और 'सूरसागर' नामक शरीर में उसकी आत्मा के समान दृष्टिगोचर होती है। शृंगार रस की धारा उससे छोटी; मगर अलौकिकता से परिपूर्ण और मधुर-भक्ति-भावनाओं से युक्त! वात्सल्य रस-धारा सर्वथा नवीन, स्वाभाविक और हृदय ग्राही! इसीलिये सूरदास मुख्य रूप से

७

रसानुभूति और भाव-विस्तार

भाव ही रस की आधार-शिला हैं। इन भावों में जब मनुष्य तन्मय होकर देर तक उनका आस्वादन करता है, तभी रस की सृष्टि होती है। भाव भी अनेक हैं और रस भी। भरत मुनिने अपने नाट्य सूत्रों में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत—इस तरह आठ ही रसों को गिनाया है; मगर उनके बाद के आचार्यों ने शान्तरस का नाम गिनाकर इसप्रकार रसों की संख्या को नौ कर दिया है। यह हम बहुत पहिले ही कह आये हैं कि 'सूरसागर' रस से ओत-प्रोत एक भाव-प्रधान रचना है—इसलिए सूक्ष्म रूप में हमारा यह कथन निर्विवाद सत्य है कि 'सूरसागर' में लगभग सभी रस धारायें अपनी स्वाभाविक गति से बहती चली गई हैं। उसमें लगभग सभी रसों और सम्पूर्ण भावों का प्रकाशन हुआ है। मगर इन धाराओं में सब से बड़ी धाराएँ तीन हैं—और वे हैं, शान्त, वात्सल्य और शृंगार रस की धारायें। शान्तरस की धारा इनमें सब से बड़ी है और 'सूरसागर' नामक शरीर में उसकी आत्मा के समान दृष्टिगोचर होती है। शृंगार रस की धारा उससे छोटी; मगर अलौकिकता से परिपूर्ण और मधुर-भक्ति-भावनाओं से युक्त! वात्सल्य रस-धारा सर्वथा नवीन, स्वाभाविक और हृदय ग्राही! इसीलिये सूरदास मुख्य रूप से

वात्सल्य और शृंगार रस के ही कवि कहे जाते हैं; मगर वास्तव में वह शान्तरस के कवि हैं—क्योंकि यही वह रस है, जिसमें सब से पहिले उन्होंने कविता रची और जो वृहद् 'सूरसागर' के प्रत्येक स्कंध में अपना रूप सँवारे बैठा है।

'सूरसागर' को पढ़ते हुए मनुष्य ऊबता नहीं, थकता नहीं—इसके विपरीत वह उसे बार बार पढ़ता है—और इसका मुख्य कारण है, भावों की बहुलता। किसी एक ही विषय से सम्बन्धित अनेक भाव, जिनमें आनन्द का स्रोत उमड़ता रहता है और मनुष्य का हृदय रस से ओत-प्रोत हो जाता है। अगर काव्य की परिभाषा के निमित्त हम विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'—इन शब्दों को सत्य मान लें तो कह सकते हैं, 'सूरसागर' के रूप में उक्त परिभाषा सशरीर और सप्राण हमारे सामने है। संसार के मिथ्यात्व को देखकर जब सूरदास का मन ग्लानि से भर उठा तो उन्होंने आत्मा की मुक्ति के निमित्त भक्ति मार्ग को पकड़ा और विनयशील भक्त के समान वह उस पथ पर आगे बढ़े— और 'सूरसागर' की आत्मा शान्तरस उनके इन्हीं भावों का परिणाम है।

(१) शान्त-रस—जीवनवृत्त शीर्षक प्रथम अध्याय में ही हम लिख आये हैं कि सूरदास वैराग्य धारण कर गऊघाट पर निवास करते हुए बड़े ही शान्त भाव से रह कर विनय-भक्ति के पद रचा और गाया करते थे। और उनकी विनय भक्ति के ये पद 'सूरसागर' के प्रथम स्कध में ही संग्रहीत हैं। वास्तव में, ये ही वे पद हैं, जो संसार से ग्लानि और विरक्ति की भावना से ओत प्रोत होने के कारण शान्तरस के स्थायी भाव निर्वेद को उसके सम्पूर्ण रूप में धारण किये हुये हैं। इसीलिये इन पदों में संसार की अनित्यता, आत्म-निवेदन और प्रार्थना, प्रभु-विरह की व्याकुलता, प्रभु की दयालुता, अपनी दीनता, आत्म-ग्लानि, अमर्ष और हर्ष आदि भावों का सामंजस्य स्थापित हुआ है। इन पदों की भाषा भी सीधी और सरल है—क्योंकि शान्तरस के प्रकाशन में किसी आडम्बर

की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिये अपने इन पदों में सूरदास अपने हृदयगत् भावों को वड़ी सुगमता और सरलता के साथ व्यक्त करते हुए दिखलाई देते हैं।

कृष्ण से सम्वन्धित विनय के जितने भी पद 'सूरसागर' में हैं, शान्तरस उनमें अच्छी प्रकार से विकसित हुआ दिखलाई देता है। उनके व्रज महिमा के पद भी शान्तरस के अन्तर्गत् ही रक्खे जाते हैं—क्योंकि वे भक्ति-भावना की पुष्टि के निमित्त रचे गये हैं। साथ ही सूरदास ने 'सूरसागर' के प्रत्येक स्कंध के प्रारम्भ में कुछ पंक्तियों के द्वारा हरि का स्मरण वार-वार किया है। जैसे—

हरि हरि, हरि हरि, सुमिरन करौ। हरि-चरनारविंद उर धरौ।
सुक हरि-चरननि कौं सिर नाई। राजा सो वोल्यौ या भाई।
कहौं हरि-कथा, सुनौ चितलाइ। सूर तरौ हरि के गुन गाइ॥

और इसका अर्थ है—मानो, 'सूरसागर' में अन्य रस गौण हैं और शान्तरस मुख्य—इसीलिए हमने पीछे इस रस को 'सूरसागर' नामक शरीर की आत्मा कह कर पुकारा है और अन्य रसों को इसके विविध अंग। वास्तव में, 'सूरसागर' में जितने भी अन्य रसों का उपयोग किया गया है, वह केवल शान्तरस की पुष्टि के निमित्त इसीलिये शाँतरस की धारा समूचे 'सूरसागर' में वड़े ही शान्तभाव और मंथर गति से प्रवाहित होती हुई दृष्टि गोचर होती है।

पीछे 'सूरदास की भक्ति-भावना' नामक अध्याय के अन्तर्गत हमने शान्तरस और उससे सम्वन्धित भावों से परिपूर्ण अनेक पद उद्धृत किये हैं, इसलिये इस स्थान पर और पदों को देना हम अनावश्यक समझते हैं।

(२) वात्सल्य रस—हिन्दी में इस रस को स्थापित करने का श्रेय सूरदास को है। यह हम पहिले ही लिख आये हैं कि आचार्य वल्लभाचाय की आज्ञा-वाणी को शिरोधार्य कर सूरदास ने 'घिघियाना' वन्द कर दिया था। महाप्रभु के इष्टदेव वाल-कृष्ण थे, जिनकी लीला का गान करना ही आचार्य की दृष्टि में भक्ति थी—

तथा उस लीला का गान करते हुए उसमें एकाकार हो जाना ही भक्त की सर्वोपरि साधना ! और 'घिघियाना' बन्द कर सूरदास ने बाल-कृष्ण की लीला का गान प्रारम्भ किया। वास्तव में, सूरदास रचित 'सूरसागर' में ये ही वे पद हैं, जिनमें वात्सल्य रस की धारा अपने सम्पूर्ण मनोभावों के साथ, संयोग और वियोग की अवस्थाओं में बहती चली गई है।

इस रस का स्थायी भाव है—बाल-प्रेम ! आलम्बन है-बालक ! आश्रय–माता, पिता आदि। उद्दीपन–शिशु अथवा बालक का शारीरिक सौन्दर्य, उसकी बुद्धि का कौशल, खेल कूद आदि। अनुभाव–मुदित होना, हास्य, गद्गद् होना, चूमना, गोद में लेना आदि—तथा संचारी भाव—हर्ष, विस्मय, पुलक आदि। और सूर ने वात्सल्य रस के अन्तर्गत आने वाले इन सभी भावों और विभावों तथा अनुभावों का पूर्ण सफलता के साथ वर्णन किया है। साथ ही रस की संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं को स्पर्श किया है। मगर वियोग के पद कम हैं, इसके विपरीत संयोग का चित्रण उन्होंने खूब किया है। और सूरदास रचित संयोग -वात्सल्य के ये पद वास्तव में विश्व-साहित्य में अनूठे हैं। इन पदों में मा- सूर के हृदय का ऐसा कोई भी कोना बाकी नहीं रहा है, जो स्पर्श न हुआ हो। तो, ऐसा जान पड़ता है, मानो—यशोदा के रूप में उन्होंने कृष्ण की बाल-लीला में पूर्ण रूपेण भाग लेकर इस ओर की अपनी साधना को पूर्ण किया है।

वात्सल्य रस से ओत-प्रोत अधिकांश पद सूरदास ने यशोदा और कृष्ण के प्रसंग को लेकर ही लिखे हैं—इसीलिये माँ के हृदय की सभी धड़कनें इन पदों में निहित हैं। निम्नलिखित पद यशोदा के हृदय में उत्पन्न सुख को व्यक्त करने में पूर्ण सफल है—

आँगन स्याम नचावहीं, जसुमति नँदरानी।
तारी दै - दै गावहीं, मधुरी मृदु बानी।
पाइनि नूपुर बाजई, कटि किंकिनि कूजै।

नान्ही एड़ियनि अरुनता, फल-बिंब न पूजै।
जसुमति गान सुनै स्रवन, तब आपुन गावै।
तारी बजावत देखई, पुनि आपु बजावै।
केहरि-नख उर पर रुरै, सुठि सोभाकारी।
मनौ स्याम घन मध्य मैं, नव ससि उजियारी।
गभुआरे सिर केस हैं, वर घूँघरवारे।
लटकन लटकत भाल पर, विधु मधि गन तारे।
कठुला कंठ चिबुक-तरैं, मुख दसन विराजैं।
खंजन विच सुक आनि कै मनु परयौ दुराजैं।
जसुमति सुतहिं नचावई, छवि देखत जिय तैं।
सूरदास प्रभु स्याम कौ मुख टरत न हिय तैं ॥१३४॥

—'सूरसागर' दशम स्कंध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

आभूषण धारण किये हुये कृष्ण की छवि मनोमुग्धकारी और परम आकर्षक है। यशोदा सुत को नचाती हुई उसकी उस छवि को मन अटकाकर देख रही है। और अपूर्व शोभा से सम्पन्न सुत का यह मुख उसके हृदय में ऐसा अटक गया है कि वह अब इधर-उधर नहीं होता है।

इस प्रकार वात्सल्य रसके अन्तर्गत् सूर ने बालक कृष्ण के सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए अनेक चित्र अंकित किये हैं, जिनमें उसकी विविध क्रीड़ायें भी चित्रित हुई हैं और रस का उद्दीपन भली भाँति हो पाया है। घुटने चलना, पाँवों चलना, कलेवा, चन्द्रप्रस्ताव, माखन-चोरी, गाय दुहना आदि ऐसी अनेक क्रीड़ायें हैं जिनके बीच अभिलाषा, उत्सुकता, गर्व, उत्साह, अमर्ष, ग्लानि, क्षोभ, शंका चिन्ता, त्रास, मोह, दीनता आदि अनेक भाव व्यक्त हुये हैं और वात्सल्य रससे परिपूर्णमा यशोदा का कोमल हृदय हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में, इन पदों को पढ़ते हुये ऐसा ज्ञात होता है मानों, एक मा अपने सम्पूर्णमनोभावों के साथ हृदय खोल कर

हमारे सम्मुख खड़ी है और हम एक-एक कर सभी भावों का रसास्वादन भली भाँति कर रहे हैं।

बाल कृष्ण से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ यशोदा के सम्मुख आती हैं; परन्तु सभी के बीच उसका वात्सल्य भाव अक्षुण बना रहता है–हालाँकि, क्षण-भर के लिए कभी-कभी उसमें व्यवधान जरूर उत्पन्न हो जाता है; मगर वह अस्थायी है—इसलिए इस व्यवधान के बीच पलने वाले अमर्ष, ग्लानि, क्षोभ आदि भाव कुछ ही देर के लिए उसके मन में फलते फूलते हैं—जैसे पानी का बुदबुदा-मगर तुरन्त ही वे मिटकर वात्सल्य रस में एकाकार हो जाते हैं। कृष्णकी माखन चोरी, चीर हरण, दान, पनघट आदि लीलाओं से सम्बन्धित गोपियों के उलाहने, वात्सल्य से परिपूर्ण यशोदा के हृदय में ठेस पहुंचाते हैं; इसीलिए कभी वह कृष्ण को डाँटती-फटकारती है, कभी वह उन गोपियों को युक्तियुक्त उत्तर देकर बात को टाल देती हैं; मगर उसका वात्सल्य कम नहीं होता। वह बरसाती नदी की भाँति गोपियों के इन उलाहनों की गर्मी पाकर सूख नहीं जाता इसके विपरीत वह तो मानवती धारा के समान अपने उसी स्थायी भाव से बहता रहता है।

इसीलिए पुत्र कृष्ण की क्षेम के विषय में उसका हृदय सर्वदा आकुल रहता है—और जब तब आशंकित होने पर वह शंका और चिन्ता के भावों में डूब जाता है। कालियदमन लीला के अवसर पर इसीलिए हम उसे और नन्द को असीम मानसिक क्लेश का दुख वहन करते हुये देखते हैं। इसके पश्चात् अक्रूरके साथ जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो उनके संयोग वात्सल्य की सर्वथा विपरीत दशा हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाती है। उनका वात्सल्य रस से परिपूर्ण हृदय इस समय त्रास, विषाद, मोह और व्याधि आदि भावों का अनुभव करता हुआ अन्त में असीम दैन्य का अनुभव करता है। यशोदा के द्वारा देवकी को भेजा जाने वाला सन्देश उसके घोर मानसिक क्लेश और असीम दीनता का परिचायक है।

नन्द के प्रति उसकी कटु उक्तियों में भी वियोग वात्सल्य के अन्तर्गत आने वाला उसका यही भाव व्यक्त हुआ है।

इस प्रकार यशोदा का वात्सल्य इतना पूर्ण है कि वह जीवन-व्यापी बन गया है। यही कारण है जो कृष्ण कभी भी उसके नेत्रों से ओझल नहीं हो पाते। संयोग के दिनों में वह वियोग की कल्पना भी नहीं करतीं और वियोग के दिनों में वह संयोग की सुखद स्मृतियों को भूल नहीं जाती। यही कारण है जो अपनी पूर्णता पर पहुंचकर वह पति प्रेम से भी ऊपर उठा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

(२) शृंगार रस—'सूरसागर' में शृङ्गार रस के पद सबसे अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। अगर बाल लीला के पदों को निकाल दें तो समूचा दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध शृङ्गार रस के पदों से ही ओत प्रोत है। वात्सल्य रस के समान इस रस के भी दो भाग हैं—संयोग शृङ्गार और वियोग अथवा विप्रलम्भ शृङ्गार ! गोकुल में रहते हुए जो भी लीलाएँ कृष्ण ने गोप गोपियों के साथ कीं—वे सब संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत आती हैं—तथा कृष्ण के मथुरा गमन करने पर गोपियों की विरह वेदना का चित्रण विप्रलम्भ शृङ्गार का अंग है—और शृङ्गार रस के इसी भाग में वे पद भी हैं जो हिन्दी-साहित्य में भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध हैं।

शृङ्गार रस का चित्रण गोपियों और कृष्ण तथा राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों और उनकी विरह-वेदना के व्यापारों को लेकर हुआ है। जहाँ गोपियों और कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों में अलौकिकता का समावेश है, वहाँ राधा-कृष्ण का प्रेम-व्यापार मानवोचित है। बालक कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करती हुई गोपियाँ काम जनित वासना के विकार को प्राप्त होती हैं—और कृष्ण अपनी माखन-चोरी के प्रसंगों के द्वारा उनके उस विकार को स्थायी रूप देते हैं—फिर, वह विकार क्रमशः चीर-हरण, दान लीला आदि लीलाओं की

सहायता से शनैः शनैः उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता जाता है और अन्त में रासलीला के समय हमें उसका पूर्णरूप दृष्टि गोचर होता है मगर राधा-कृष्ण के प्रसंग में राधा और कृष्ण एक-दूसरे से तभी मिलते हैं, जब वे किशोरी और किशोर हैं—और परस्पर बड़े ही मानवीय ढँग से आकर्षित हो जाते हैं—फिर, उन दोनों का वह प्रेम - व्यापार कठिनाई और चतुराई के बीच आगे बढ़ता है और रासलीला के समय राधा केन्द्रिस्थ दिखलाई देती है—जिसका अर्थ है, वह कृष्ण की सर्वाधिक प्रेम-पात्री है। वास्तव में, संयोग शृंगार में राधा को सब से अधिक सुख प्राप्त हुआ है—इसलिये उसका वियोग भी बहुत ही गंभीर है। वह गोपियों की भाँति इसके लिये कृष्ण को दोषी नहीं मानतीं! बल्कि सारे दोष की भागिन वह स्वयँ को ही समझती है। यही कारण है, भ्रमरगीत के प्रसंग में हमें उसके दर्शन नहीं के बराबर होते हैं।

गोपी और कृष्ण और राधा-कृष्ण की इन संयोग वियोग कीं अवस्थाओं से संबंधित इतनी मानसिक दशाओं का चित्रण सूरदास ने इन पदों में किया है कि उनको केवल इकट्ठा कर लेना भी एक असाधारण कार्य ही ठहरता है। वास्तव में, सूरदास इस शृंगार रस-माला में एक के बाद एक ऐसे अनेक भाव-पुष्प गूँथते चले गये हैं—जो, नैसर्गिक, अनोखे, अनमोल और अगणित हैं। मगर ये सभी भाव तीन भागों में विभक्त किये जा-सकते हैं। इनमें प्रथम प्रकार के वे भाव हैं जो गोपियों के मन में प्रेम की आकुलता भर-कर उन्हें प्रेम के पथ पर आगे बढ़ाते हैं—तथा दूसरे प्रकार के वे भाव हैं, जो प्रेम की प्राप्ति के पश्चात्, उसकी तीव्रता और गहनता को सूचित करते हैं—एवं तीसरे प्रकार के वे भाव हैं—जो गोपियों की गंभीर विरह-वेदना के सूचक तथा प्रेम की महत्ता को प्रदर्शित करने वाले हैं।

कृष्ण बालक हैं—गोपियाँ उनको देखती हैं और उनके सौंदर्य पर मुग्ध होकर रह जाती हैं। उस अनोखी रूप-राशि को देख कर

वे चकित भी हैं और भ्रमित भी ! फिर, हर्षित और विकल ! और कृष्ण की उस अलौकिक सुन्दरता पर वे अपना तन मन निछावर कर देती हैं। अलौकिक पुरुप कृष्ण उनके मन की बात को समझते हैं और माखन-चोरी की लीला का जादू उन पर डालकर उन्हें भाव-विभोर कर देते हैं । फिर, उनके मन में अनेक प्रकार की अभिलाषाएँ जाग उठती हैं-तो कभी वे स्तम्भित हो जाती हैं और कभी उनको रोमाञ्च हो आता है । कभी वे मन में कृष्ण से मिलने के लिये भांति भांति के विचार स्थिर करती हैं । कभी वे उन्हें माखन खाते हुये एकटक देखने की साध पूरी करती हैं—और कभी वे उनकी बाँह पकड़ यशोदा के पास ले जाती हैं—तो इस तरह अपना प्रेम प्रदर्पित करती हैं। इस प्रकार इस समय के उनके सभी भावों में केवल एक ही बात निहित है कि वे कृष्ण को प्रेम करती हैं। वे उनके रूप-दर्शन की सर्वदा प्यासी हैं और उनके दर्शन कर उनके मन में हर्ष की हिलोर सी उठने लगती है । मुरली के प्रसंग में भी यही भाव व्यक्त हुआ है।

गोपियाँ कृष्ण को पति-रूप में भजने लगती हैं—तो, इस रूप में उन्हें प्राप्त करने की निश्चित अभिलाषा को अपने हृदय में धारण कर वे शिव और सूर्य की आराधना में तल्लीन हो जाती हैं। और इस प्रकार कवि उनके धैर्य का वर्णन करता है । मगर कृष्ण की चंचलता और धृष्टता उनके धैर्य को भंग कर उनके मन में उत्कंठा, आवेग, विकलता आदि भावों को स्थापित कर देती हैं। साथ ही कृष्ण की धृष्टता के कारण लोक लाजकी मर्यादा की भावना की रक्षा के हेतु वे यशोदा से कृष्ण की शिकायत करती हैं और मनमें खिन्नता का अनुभव करती हुई भी वे कृष्ण के दर्शन कर सुख का अनुभव करती हैं। इस अवसर पर कवि ने राधा के मन में इन्ही भावों को चित्रित किया है—जिससे नारी-स्वभाव की वास्तविकता की रक्षा भली प्रकार से हो गई है । पनघट-लीला में कविने उनके इन भावों की तीव्रता को व्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है। दान-

लीला में उनके इन भावों की तीव्रता और अधिक बढ़ जाती है और विस्तार भी खूब हो जाता है। कृष्ण का बल प्रयोग उनमें अमर्ष के भाव को जगा देता है।

जानी बात तुम्हारी सबकी।
लरिकाई के ख्याल तजौ अब, गई बात वह तब की॥
मारग रोकत रहे जमुन कौ, तिहिँ धौखैँ ह्वौ आए।
पावहुगे पुनि कियौ आपनौ, जुवतिनि हाथ लगाए॥
जौ सुनिहैँ यह बात मात पितु, तौ हमसौँ कह कैहैँ।
सूर स्याम मोतिनि लर तोरी, कौन ज्वाब हम दैहैँ॥ १५३३॥
—'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

मगर कृष्ण उनके इस रोष की बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करते- इसके विपरीत वह उसे और बढ़ावा देते हैं और अन्तमें अपने लीला चातुर्य के द्वारा उनके इस रोष का शमन कर उनमें प्रेम के सरल और स्निग्ध भाव जागरित कर देते हैं। तब कवि उनके प्रेम की तृष्णा का वर्णन करता है—फिर, संकोच और जड़ता का! हरि के चरित्रों को देखकर गोपियाँ विस्मित हो ठगी सी रह जाती है और जब उन्हें बुद्धि आती है तो उनके आनन्द का भाव सीमा को लाँघ जाता है। वे हर्षोन्मत्त होकर कृष्ण को दधि-माखन खिलाने लगती हैं। उनके मन में अनेक प्रेम-सूचक भाव उदय हो जाते हैं, जिनमें उनकी तीव्र उत्कंठा अपना रूप सँवारे बैठी है।

इसके पश्चात् कवि उनकी काम की दशाओं का वर्णन करता है—और इन काम की दशाओं के अन्तर्गत सभी सम्भव भाव व्यक्त हुये हैं। उन्मत्त होकर खाली गगरी लिए वे बन बन गोरस बेचती हैं। कभी कृष्ण की याद कर चौंक पड़ती हैं। विकल होकर यमुना के तीर पर जाती हैं। वहाँ बैठकर दानलीला का अभिनय करती हैं और इस तरह कृष्ण के गुणों को याद कर कृष्ण-प्रेम में मग्न हो जाती हैं। कभी हँसती और कृष्ण को बुलाती हैं। कभी रिस कर उन्हें बरज देती हैं। लोक-लाज की बात उनके ध्यान से बिसर गई

वे चकित भी हैं और भ्रमित भी ! फिर, हर्षित और विकल ! और कृष्ण की उस अलौकिक सुन्दरता पर वे अपना तन मन निछावर कर देती हैं। अलौकिक पुरुष कृष्ण उनके मन की बात को समझते हैं और माखन-चोरी की लीला का जादू उन पर डालकर उन्हें भाव-विभोर कर देते हैं । फिर, उनके मन में अनेक प्रकार की अभिलाषाएँ जाग उठती हैं-तो कभी वे स्तम्भित हो जाती हैं और कभी उनको रोमांच हो आता है । कभी वे मन में कृष्ण से मिलने के लिये भांति भांति के विचार स्थिर करती हैं । कभी वे उन्हें माखन खाते हुये एकटक देखने की साध पूरी करती हैं—और कभी वे उनकी बाँह पकड़ यशोदा के पास ले जाती हैं—तो इस तरह अपना प्रेम प्रदर्शित करती हैं। इस प्रकार इस समय के उनके सभी भावों में केवल एक ही बात निहित है कि वे कृष्ण को प्रेम करती हैं। वे उनके रूप-दर्शन की सर्वदा प्यासी हैं और उनके दर्शन कर उनके मन में हर्ष की हिलोर सी उठने लगती है । मुरली के प्रसंग में भी यही भाव व्यक्त हुआ है।

गोपियाँ कृष्ण को पति-रूप में भजने लगती हैं—तो, इस रूप में उन्हें प्राप्त करने की निश्चित अभिलाषा को अपने हृदय में धारण कर वे शिव और सूर्य की आराधना में तल्लीन हो जाती हैं। और इस प्रकार कवि उनके धैर्य का वर्णन करता है । मगर कृष्ण की चंचलता और धृष्टता उनके धैर्य को भंग कर उनके मन में उत्कंठा, आवेग विकलता आदि भावों को स्थापित कर देती हैं। साथ ही कृष्ण की धृष्टता के कारण लोक लाजकी मर्यादा की भावना की रक्षा के हेतु वे यशोदा से कृष्ण की शिकायत करती हैं और मनमें खिन्नता का अनुभव करती हुई भी वे कृष्ण के दर्शन कर सुख का अनुभव करती हैं। इस अवसर पर कवि ने राधा के मन में इन्हीं भावों को चित्रित किया है—जिससे नारी-स्वभाव की वास्तविकता की रक्षा भली प्रकार से हो गई है । पनघट-लीला में कविने उनके इन भावों की तीव्रता को व्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है। दान-

लीला में उनके इन भावों की तीव्रता और अधिक बढ़ जाती है और विस्तार भी खूब हो जाता है। कृष्ण का बल प्रयोग उनमें अमर्ष के भाव को जगा देता है।

जानी बात तुम्हारी सबकी।
लरिकाई के ख्याल तजौ अब, गई बात वह तब की॥
मारग रोकत रहे जमुन कौ, तिहिं धौखैं हौ आए।
पावहुगे पुनि कियौ आपनौ, जुवतिनि हाथ लगाए॥
जौ सुनिहैं यह बात मात पितु, तौ हमसौं कह कैहैं।
सूर स्याम मोतिनि लर तोरी, कौन ज्वाब हम दैहैं॥ १५३३॥

—'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

मगर कृष्ण उनके इस रोष की बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करते—इसके विपरीत वह उसे और बढ़ावा देते हैं और अन्तमें अपने लीला चातुर्य के द्वारा उनके इस रोष का शमन कर उनमें प्रेम के सरल और स्निग्ध भाव जागरित कर देते हैं। तब कवि उनके प्रेम की तृष्णा का वर्णन करता है—फिर, संकोच और जड़ता का! हरि के चरित्रों को देखकर गोपियाँ विस्मित हो ठगी सी रह जाती है और जब उन्हें बुद्धि आती है तो उनके आनन्द का भाव सीमा को लाँघ जाता है। वे हर्षोन्मत्त होकर कृष्ण को दधि-माखन खिलाने लगती हैं। उनके मन में अनेक प्रेम-सूचक भाव उदय हो जाते हैं, जिनमें उनको तीव्र उत्कंठा अपना रूप सँवारे बैठी है।

इसके पश्चात् कवि उनकी काम की दशाओं का वर्णन करता है—और इन काम की दशाओं के अन्तर्गत सभी सम्भव भाव व्यक्त हुये हैं। उन्मत्त होकर खाली गगरी लिए वे बन बन गोरस बेचती हैं। कभी कृष्ण की याद कर चौंक पड़ती हैं। विकल होकर यमुना के तीर पर जाती हैं। वहाँ बैठकर दानलीला का अभिनय करती हैं और इस तरह कृष्ण के गुणों को याद कर कृष्ण-प्रेम में मग्न हो जाती हैं। कभी हँसती और कृष्ण को बुलाती हैं। कभी रिस कर उन्हें बरज देती हैं। लोक-लाज की बात उनके ध्यान से बिसर गई

हैं और वे पूर्णरूपेण कृष्ण प्रेम में संलग्न हो गई हैं। तो हर्ष, गर्व, विकलता, क्षोभ आदि अनेक भावों का अनुभव करती हैं। और उनके इन भावों में निहित आनन्द भी पूर्णता रास के प्रसंग में व्यापक रूप से दिखलाई देती है। हिंडोल और वसन्त की लीलाओं में रति-सुख सम्बन्धी आनन्दानुभूति अपनी चरम सीमा पर जा पहुंचती है।

वियोग-शृंगार के वर्णन में दैन्य, ग्लानि, वितर्क आदि भावों का चित्रण हुआ है। दैन्य भाव सूर की आत्मा है—इसलिए गोपियों के वचनों में हमें इसी भाव की प्रधानता स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। कृष्ण मथुरा चले जाते हैं—तो, क्षणभर के लिए गोपियाँ जड़-वत् हुई जान पड़ती हैं; मगर शीघ्र उनमें जीवन जाग उठता है और उनका हृदय पश्चाताप और आत्म-ग्लानि के भावों से भर जाता है। तब वे आत्म-भर्त्सना करती हुई परस्पर और स्वयं से अनेक वचन कहती हैं। राधा दीनता भरे स्वर में प्रार्थना करती है—माधो, एक वार आकर दर्शन दो। कौन जाने यह शरीर छूट जाये और हृदय में दर्शन की साध का शूल गढ़ा ही रह जाये। नन्द वबा से मिलने के वहाने ही आजाओ। आत्म ग्लानि के भावों से भरा हृदय लिये गोपियाँ परस्पर एक-दूसरे से कहती हैं—ये पापी प्राण निकल क्यों नहीं जाते। वज्र की छाती फट क्यों नहीं जाती। सखि, मेरे वाल-संघाती विछुड़ गये। मैं अपराधिन दही मथती ही रह गई। यदि हरि का जाना मैं जान पाती तो लाज छोड़कर उन्हीं के साथ चली जाती। इस प्रकार दीनता के भाव से ओत-प्रोत गोपियों की दशा वहुत ही करुण है।

और आगे चलकर भ्रमरगीत के पदों में गोपियों की यह करुणा पूरे वेग के साथ व्यक्त हुई दीख पड़ती है। व्रज की करुण दशा का वर्णन करते हुये उद्धव कहते हैं—

व्रज के विरही लोग दुखारे।
विन गोपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुर्वल तन कारे॥

नन्द, जसोदा मारग जोवति, निसि-दिन साँझ सकारे।
चहुं-दिसि कान्ह-कान्ह कहि टेरत, अँसुवन बहत पनारे॥
गोपी, ग्वाल, गाइ, गो-सुत सब, अतिहीं दीन बिचारे।
सूरदास प्रभु बिनु यौं देखियत, चन्द बिना ज्यौं तारे॥
॥४१००॥

'सूरसागर'—दशम स्कंध (दूसरा भाग) का० ना० प्र० सभा।

उपर्युक्त तीन मुख्य रस-धाराओं के अतिरिक्त 'सूरसागर' में अन्य रस-धाराएँ भी प्रवाहित हो रही हैं—और वे क्रमशः निम्न-लिखित हैं—

(१) हास्यरस—स्मित हास्य 'सूरसागर' में अनेक स्थलों पर दीख पड़ता है। वास्तव में, यह रस 'सूरसागर' में वात्सल्य और शृंगार रस के सहायक के रूप में प्रवाहित हुआ है। वात्सल्य और शृंगार रस का वर्णन करते हुये सूरदास की विनोदी प्रकृति जहाँ भी इस ओर उन्मुख हुई है, उसी स्थल पर उन्होंने इन दोनों मुख्य रस-धाराओं के बीच शिष्ट और मर्यादित हास्य की मनोहर रेखाएँ खींच दी हैं। वात्सल्य रस में कृष्ण की माखन-चोरी लीला और शृंगार में राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंग तथा गोपी-उद्धव के संवादों में इस रस का सुन्दर विकास हुआ है। कृष्ण के बाल-सुलभ चातुर्य पूर्ण उत्तरों में इसका प्रच्छन्न रूप देखने ही योग्य है—

मैया मैं नहीं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचैं धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनैं मैं कैसैं करि पायौ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिँ कंठ लगायौ।
बाल विनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिव बिरंचि नहिँ पायौ॥३३४

—'सूरसागर'—दशम स्कंध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा

राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंग में सूरदास ने स्मित हास्य की व्यंजना बड़े ही सुन्दर ढंग से की है। एक दिन असावधानी के कारण कृष्ण पीताम्बर के स्थान पर राधा की साड़ी ओढ़े अपने घर चले आते हैं—तो,

स्यामहिँ देखि महरि मुसक्यानी।
पीतांबर काकैँ घर बिसरयौ, लाल ढिगनि को सारी आनी॥

इस प्रकार सूरदास ने अपनी विनोद-प्रियता का अनेक स्थलों पर आभास दिया है। मगर हास्यरस के सब से अधिक और उत्कृष्ट पद भ्रमरगीत प्रसंग के अन्तर्गत दिखलाई देते हैं। वास्तव में, भ्रमरगीत आदि से अन्त तक एक उपालम्भ काव्य है-इसीलिये उसमें इस रस का परिपाक सरलता पूर्वक और भली भाँति हो पाया है।

(२) अद्‌भुतरस—'सूरसागर' में अद्‌भुतरस के पद भी अनेक स्थलों पर दीख पड़ते हैं। इस रस का विशेष रूप से प्रयोग सूरदास ने कृष्ण की बाल-लीला के प्रसगों के बीच किया है। कतिपय पद मुरली-प्रसंग के अन्तर्गत भी दिखलाई पड़ते हैं। कृष्ण ने मिट्टी खाली—एक गोपी ने आकर यशोदा से शिकायत की। यशोदा ने कृष्ण से मुँह खोलकर दिखाने के लिये कहा। कृष्ण ने मुख खोल कर दिखाया तो यशोदा समूचे ब्रह्माण्ड को उनके मुँह में देखकर आश्चर्यचकित होकर रह गई—

अखिल ब्रह्माड खण्ड की महिमा दिखरायो मुख माहीं।
सिन्धु, सुमेरु, नदी, बन, पर्वत चकृत भई मन माहीँ॥

मुरली के अलौकिक प्रभाव के कारण निम्नलिखित पद में सभी आश्चर्यजनक घटनाओं का घटित होना अद्‌भुत रस का व्यंजक है-

मुरली सुनत अचल चलें।
थके चर, जल झरत पाहन, विफल वृच्छ फले॥
पय स्रवत गोधननि थन तैं, प्रेम पुलकित गात।
झुरे द्रुम अंकुरित पल्लव, विटप चंचल पात॥

सुनत खग मृग मौन साध्यौ, चित्र की अनुहारि।
धरनि उमँगि न माति उर मैं, जती जोग बिसारि॥
ग्वाल गृह - गृह सबै सोवत, उहैं सहज सुभाइ।
सूर-प्रभु रस रास के हित, सुखद रैनि बढ़ाइ॥ १०६८॥
'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

(३) करुणरस—'सूरसागर' में इस रस के दर्शन हमें उस समय होते हैं जब कृष्ण के मथुरा से न लौटने पर गोपियाँ निराशा का अनुभव करने लगती हैं और उनकी दशा बहुत ही करुण पूर्ण हो जाती है—विरहिणी राधा के चित्र बहुत ही करुण हैं—

देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
मनहु कमल ससि त्रास ईस कौ, मुक्ता गनि-गनि देत॥
कहुँ कंकन कहुँ गिरी मुद्रिका, कहूँ टाड़ कहुँ नेत।
चेतति नहीं चित्र की पुतरी, समुझाई सौचेत॥
द्वार खड़ी इकटक मग जोवति, ऊर्ध उसाँसनि लेत।
सूरदास कछु सुधि नहिँ तन की, बँधी तिहारैं हेत॥४११५॥
—'सूरसागर'-दशम स्कंध (दूसरा भाग) का० ना० प्र० सभा।

(४) भयानक रस—

चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।
नंद-घरनि गावति, हलरावति, पलना पर हरि खेलत।
जे चरनारविंद श्री-भूषन, उर तैं नैंकु न टारति।
देखौं धौं का रस चरननि मैं, मुख मेलति करि आरति।
जा चरनारविंद के रस कौं सुर-मुनि करत बिषाद।
सो रस है मोहूँ कौं दुरलभ, तातैं लेत सवाद।
उछरत सिंधु, धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ।
सेष सहसफन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाइ।
बढ्यौ बृच्छ बट, सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात।
महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ - तहाँ आघात।

करुना करी, छाँड़ि पग दीन्हौ, जानि सुरनि मन संस ।
सूरदास प्रभु असुर-निकंदन, दुष्टनि कैं उर गंस ॥ ६४ ॥
—'सूरसागर'—दशम स्कंध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा ।

(५) वीर रस—'प्रसंग के अनुसार 'सूरसागर' में वीर रस का चित्रण भी कई स्थानों पर हुआ है'। देखिये—

देखि नृप तमकि हरि चमक ह्वहँई गए,
दमकि लीन्हौ गिरह्वाज जैसैं ।
धमकि मार्‌यौ घाव, गुमकि हिरदै रह्यौ,
झमकि गहि केस लै चले ऐसैं ॥
ठेलि हलधर दियौ, झेलि तब हरि लियौ,
महल के तरैं धरनी गिरायौ ।
अमर जय धुनि भई, धाक त्रिभुवन गई,
कंस मार्‌यौ निदरि देवरायौ ॥
धन्य बानी गगन, धरनि पाताल धनि,
धन्य हो धन्य वसुदेव ताता ।
धन्य अवतार सुर धरनि उपकार कौं,
सूर प्रभु धन्य बलराम भ्राता ॥ ३०७६ ॥
—'सूरसागर'—दशम स्कन्ध (दूसरा भाग) का० ना प्र० सभा ।

इस प्रकार 'सूरसागर' में लगभग सभी रसों का निरूपण हुआ है। मगर सूरदास शान्त स्वभाव, सरल-हृदय और कोमल वृत्ति के व्यक्ति थे—इसलिए कोमल रसों के उद्घाटन में उन्होंने अपनी प्रतिभा का प्रयोग विशेष रूप से किया है । यही कारण है जो वात्सल्य और शृंगार का चित्रण 'सूरसागर' में अपनी सभी दशाओं और भावनाओं के साथ हुआ दृष्टिगोचर होता है—और अन्य रस प्रसंगवश ही दिखलाई देते हैं। रौद्र और वीभत्स रस के पद तो 'सूरसागर' में खोजने पर भी मिलने कठिन हैं। वीभत्स रस की तो उन्होंने पूर्णरूप से ही उपेक्षा की है—रौद्र रस की अवतारणा के समय उन्होंने केवल क्रोध का वर्णन कर ही काम चला लिया है।

८

सौन्दर्य-वर्णन

मानव तथा प्राकृतिक सौंदर्य के वर्णन से ओत-प्रोत 'सूरसागर' में अनेक पद हैं। मानव सौंदर्य को व्यक्त करने के लिए सूर ने कृष्ण, राधा और गोपियों के रूप के अनगिनती चित्र अङ्कित किए हैं। और प्राकृतिक सौंदर्य के निमित्त उन्होंने वन, प्रभात, यमुना, द्रुमलता, पुष्प, चन्द्रमा, मेघ, वर्षा, वसन्त और शरद का सुन्दर और मनोहर वर्णन प्रस्तुत किया है। मानव-सौंदर्य का वर्णन संयोग श्रृंगार की प्रथम अवस्था रूपाकर्षण के निमित्त से हुआ है और प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण भावों के उद्दीपन के लिए हैं।

पुरुष सौन्दर्य

पुरुष की सुन्दरता को व्यक्त करने के लिये सूरदास ने कृष्ण के रूप की अनेक रेखाएँ अङ्कित की हैं, जिनमें गोपियों का आकर्षण-भाव तथा उनका सुख निहित है। विविध भागों और उपभागों से सम्पन्न कृष्ण-रूप-वर्णन के 'सूरसागर' में अनगिनती पद हैं जिनमें पुरुष सौंदर्य का सर्वोपरि रूप विकसित हुआ है। कृष्ण के उत्कृष्ट सौन्दर्य का वर्णन करते हुये कवि कहता है—कृष्ण के शरीर का रंग श्याम-सरोज और नव जलधर के समान श्याम है। उनके शीश पर घनी और घुंघराली अलकें अलियों के समान काली काली अत्यन्त शोभायमान प्रतीत होती हैं। विशाल भाल, कपोल और

गंड-मण्डल अतीव सुन्दर हैं। सुन्दर भृकुटियाँ धनुषाकार हैं। कंरज- खञ्जन, मीन और मृग-शावक सब मिलकर उनके विशाल और कमल लोचनों की शायद समता कर सकें। नासिका कीर के समान, दशन विद्युतच्छटा जैसे और उनकी वाणी कोकिल के समान है। ग्रीवा शंख के समान और चिबुक अत्यन्त शोभाशालिनी, उनकी भुजाएँ नागों के समान चपल और जानु पर्यन्त विशाल हैं। कर कमलों के समान कोमल और अरुण तथा उँगलियाँ अतीव सुन्दर हैं। वक्ष-स्थल पर भृगु पाद का चिन्ह अंकित है। कटि सिंह कटि के समान क्षीण है। नाभिह्रद के समान गंभीर ! नव-नील घन पर सूक्ष्म रूप में शेष रह गई धूम्र-धारा के समान नाभि प्रदेश से वक्ष स्थल तक रोमराजी फैली हुई है। उनकी जानु और जंघा कदली और हाथी की सूँड़ के समान माँसल तथा ऊपर से क्रमशः पतली होती हुई हैं। उनके चरणों का रंग अरुण है— जैसे अरुण कमल ! कोटि रवि और शशि के प्रकाश के समान उनके नख अपार ज्योति से सम्पन्न हैं।

वह पीत वस्त्र पहनते हैं। कटि में किंकिणी, करों में पहुँची, कंठ में कठुला, कानों में मकराकृत-कुंडल और सिर पर मोर-पंखों वाला मुकुट धारण करते हैं। वक्ष-स्थल पर श्वेत-मुक्ता माला सर्वदा विराजती है। वक्ष पर अंगराग लगा रहता है। अधरों पर मुरली विराजती है। उँगलियों में मुद्रिका धारण करते हैं और भाल पर तिलक और भुजाओं में चंदन खौर लगी रहती है। प्रायः वह पीत पिछौरी धारण किये रहते हैं। त्रिभंगी की मुद्रा में जब वह खड़े होते हैं तो उनकी शोभा देखने ही योग्य होती है।

ऐसे रूप राशि वाले कृष्ण कवि की दृष्टि में सर्वदा ही कोमल, सुकुमार और आकर्षक हैं।

नारी-सौन्दर्य

नारी-सौन्दर्य के कवि ने अनगिनती और अनुपम चित्र अंकित किये हैं। इनमें साधारण चित्र गोपियों के रूप-वर्णन के हैं और

विशेष चित्र राधा के रूप-वर्णन के ! गोपियों और राधा को रति के आलंबन के रूप में स्वीकार करकवि कहता है-अंग-अंग में शृंगार धारण करने वाली गोपियाँ चन्द्रवदनीं, सुकुमारी और युवतियाँ हैं। कटि में किंकिणी, पग में नूपूर और बिछुये धारण कर जब वे आगे पग धरती हैं तो सुन्दर ध्वनि होती है। उनके पयोधर कनक-कलश और गोरस-घट के समान गोल, उन्नत और महारस-भरे हैं। गले में वे हमेल, कंठसिरी, दुलरी, तिलरी और माणिक मोती का हार धारण किये हैं, और ये सब आभूषण बहुनग-जटित अँगिया में कसे इन शोभाशाली पयोधरों पर लटकते हैं। गोरे भाल पर लाल सिंदूर की वैंदी लगी है। सुभग माँग मुक्ताओं से बनी है। नाक में वे नकवेसरि और कानों में कर्णफूल पहिने हैं। भुजाओं में वे बहूँटा और वलय और पगों में जेहरि धारण किये हैं। शरीर पर पाटंवर धारण कर जब ये गोपियाँ मतंग की भाँति मन्थर गति से चलती हैं तो कामदेव का मन भी रीझ जाता है। उस समय सुभग वेणी नितंबों पर डोलती है और उनके नखों पर जावक रंग लगा रहता है।

रास के अन्तर्गत् नारी रूप-वर्णन के कई चित्र हैं, जिनमें राधा के सौन्दर्य से सम्बन्धित चित्र सर्वोपरि और सब चित्रों के प्रतिनिधि के रूप में है—

> नीलांबर पहिरे तनु भामिनि, जनु घन दमकति दामिनि।
> सेस, महेस, गनेस, सुकादिक, नारदादि की स्वामिनि॥
> ससि-मुख तिलक दियौ मृगमद कौ, खुभी जराइ जरी है।
> नासा-तिल-प्रसून वेसरि-छवि, मोतिनि माँग भरी है॥
> अति सुदेश मृदु चिकुर हरत चित, गूँथे सुमन रसालहिँ।
> कवरी अति कमनीय सुभग सिर, राजति गोरी वालहिँ॥
> सकरी कनक-रतन-मुक्तामय लटकन, चितहिँ चुरावै।
> मानौ कोटि-कोटि सत मोहिनि, पाँइनि आनि लगावै॥
> काम-कमान-समान भौँह दोउ, चंचल नैन सरोज।

अलि - गंजन अंजन - रेखा दै, बरषत बान मनोज ॥
कंबु - कंठ नाना मनि भूषन, उर मुकुता की माल।
कनक - किंकिनी - नूपुर - कलरव, कूजत बाल मराल ॥
चौकी - हेम, चंद्र - मनि - लागी, रतन जराइ खचाई।
भुवन चतुर्दस की सुंदरता, राधे मुखहिँ रचाई ॥
सजल - मेघ - घन - स्यामल-सुंदर, बाम-अंग अति सोहै।
रूप अनूप मनोहर मोहै, ता उपमा कहि को है ॥....॥१०५५॥

—'सूरसागर'—दशम स्कंध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

मानव शरीर - सौन्दर्य का वर्णन सूर ने अद्भुत क्षमता के साथ किया है। उनके इन विवरणों से ऐसा ज्ञात होता है, मानो अंधे सूर ने किसी सुन्दर पुरुष और नारी के अगों को टटोल कर देखा है और अपनी उत्कृष्ट कोटि की रुचि की पूर्त्ति के निमित्त, परंपरागत् उपमाओं की सहायता से, उसे जीवन-दान दे दिया है। इस सम्बन्ध में उनका ज्ञान सम्पूर्ण और विलक्षण है। मानो, मानव सौन्दर्य का ऐसा कोई भी कोना नहीं है, जिसे अंधे सूर ने झाँक कर न देखा हो। नारी उस समय अतीव सुन्दर है, जब वह शैशव को पार कर यौवन के द्वार में प्रवेश करती हैं और उसके उसी रूप का वर्णन करते हुये सूर कहते हैं—यौवन-सूर्य के कारण शैशव का जल सूख गया और कुच-स्थली प्रगट हो गई। मज्जन के समय खुले हुये केश नागों के समान जान पड़ते हैं। उन सुचिक्कन केशों को दो भागों में बाँटने वाली रेखा सूर्य की किरण के समान दृष्टि-गोचर होती है। ललाट पर केसर की आड़ है और उसके बीच में सिंदूर का बिंदु बैठा है। सुन्दर मृग-नयन और उनके ऊपर भ्रू भंग की शोभा वर्णनातीत है। चंपकली सी और दोष-रहित नासिका के ऊपर मुक्ता प्रभात के ओसकण के समान प्रतीत होता है। अधरों की छवि के सम्मुख बिंब लज्जित हो जाते हैं। हँसते समय फूलों की झड़ी-सी लग जाती है। तमोल-रंग में सनी हुई दशनावली

सौदामिनी के बीज-जैसी जान पड़ती है। सिंदूर से भरे हुये कंचन के दो संपुटों के समान तमोल से भरे हुये सुघर कपोल अतीव शोभा से सम्पन्न हैं। चिवुक के ऊपर लगा हुआ डिठौना प्रभात के समय कमल-कुंज से निकलते हुये अलि शिशु के समान जान पड़ता है। अपनी स्वाभाविक रीति से जिस मार्ग से भी वह निकल जाती है, उसी ओर के मधुप कमल-वन छोड़कर उसके साथ लिपटे चले जाते हैं।

इस प्रकार अपने इन वर्णनों में अवस्था और परिस्थिति के भेद से विविधता उत्पन्न कर कवि ने इस ओर की अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है, वास्तव में मानव के सम्बन्ध में उसकी सौन्दर्यानुभूति सर्वोत्कृष्ट है। अपने इन पदों में सूर ने मानव के शरीर सौन्दर्य के वर्णन के साथ साथ उसके स्वर के सौन्दर्य का वर्णन भी किया है, जो उतना ही शक्तिशाली और सुन्दर है, जितना कि शरीर सौन्दर्य-वर्णन! कृष्ण की मुरली के स्वर का प्रभाव ब्रह्माण्ड व्यापी है। गोपियाँ उस मधुर स्वर को सुनते ही, सुध-बुध भूलकर, उसकी ओर दौड़ पड़ती हैं। यमुना स्थिर होकर उस स्वर को सुनते रहने की इच्छा रखती है।

प्राकृतिक सौन्दर्य

यह हम पहिले ही कह आये हैं कि इष्टदेव बालकृष्ण की जन्म तथा लीला-भूमि ब्रज के सौन्दर्य का चित्रण सूरदास ने विशद् रूप से किया है—और यह भावों के उद्दीपन के लिये हुआ है। वास्तव में बाल कृष्ण की लीलाओं की पृष्ठ भूमि प्रकृति के सौन्दर्य को चित्रित करने के लिए उन्होंने प्रभात, वन, द्रुमलता, पुष्प, यमुना चन्द्रमा, मेघ, वसंत, वर्षा और शरद् के अनेक और अनुपम चित्र अंकित किये हैं, जिनमें प्रकृति के सभी रूप पूर्ण रूपेण विकसित हुये हैं—और मनोभावों की वास्तविकता अपना स्थायी रूप ले सकी है।

प्रभात का वर्णन कृष्ण को जगाने के सम्बन्ध में हुआ है। 'प्रात

परसः शुचि काल है'—यशोदा उसके महत्व को समझती है। वह नहीं चाहतीं कि कृष्ण इस समय भी पड़े सोते रहें—और उन्हें जगाती हुई वह कहती हैं—

जागिए, व्रजराज कुँवर, कमल-कुसुम फूले।
कुमुद-वृन्द सँकुचित भए, भृंग लता भूले।
तमचुर खग-रोंर सुनहु, बोलत वनराई।
राँभति गो खरिकनि मैं, बछरा हित धाई।
विधु मलीन रवि प्रकास गावत नर नारी।
सूर स्याम प्रात उठौ, अंबुज-कर-धारी॥ २०२॥

—'सूरसागर'-दशम स्कध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

× × × ×

गोपाल लाल, जागिए! अरुण उग रहा है, सर्वरी विगत हो रही है। ससाँक किरन-हीन हो गया है। दीपक मलीन हो गया है। तारक-समूह की द्युति क्षीण हो गई है। खग-निकर मुखर होकर बोलने लगे हैं।

प्रभात का वर्णन सूरदास ने विरहिणी वृन्दा के प्रसंग में भी किया है और यह उसके भावों के अनुकूल हुआ है। लालन आये तो सही; मगर रैनि गँवाकर आये—इसीलिये वह कहती है—

लालन आए रैनि गँवाइ।
निसि भई छीन, बोले तमचुर खग, ग्वालनि ढीली गाइ।
अरुन-किरन मुख पंकज विगसित, मधुप लियौ रस जाइ।
चंद्र मलीन भयौ, दिनमति तैं कुमुद गए कुँभिलाइ॥
चारि जाम जागत मोहिं बीते, तुम बिनु कछु न सुहाइ।
सूर स्याम य' दरस परस बिनु, निसि गई नींद हिराइ॥२६७६

—'सूरसागर'-दशम स्कंध (दूसरा खंड) 'का० ना० प्र० सभा।

वन, द्रुमलता, पुष्प आदि का वर्णन गोचारण लीला के प्रसंग में हुआ है। गौयों को चराने के लिये सखाओं के साथ कृष्ण दूर

वनों में निकल जाते हैं। वृन्दावन, कुमुदवन, वंशीवट, संकेतवट, ताल वन आदि ये वन शीतल और सुखद हैं। इन वनों में अनेक हरी-हरी घास से आच्छादित कुंज हैं और उन कुंजों में चारों ओर द्रुम—जिनके बीच हरी घास को गाय सुख पूर्वक चरती हैं। इन वनों के तरुओं की शीतल छाया में बैठकर नन्दलाल अपने मन में सुख का अनुभव करते हैं। कमल-पत्र और पलाश के ताजे पत्तों के बने दोनों में रखकर भोजन होता है, जिसमें वन-फल भी सम्मिलित कर लिये जाते हैं। तालवन के फल सभी के मन को बहुत भाते हैं। वृन्दावन की शोभा सर्वोपरि है, जिसको निरख कर ब्रह्मा भी चकित हो जाते हैं। यहाँ जल-भरे सरोवरों में उगे हुये कमल परम शोभा-सम्पन्न दीख पड़ते हैं। त्रिविध पवन निशि-दिन चला करती है। सुभग यमुना बहती रहती है। कदंब की सुखद छाँह, पुष्पलता और द्रुम परम शोभाशाली है।

वृन्दावन नामक इस वन की अनन्त शोभा का वर्णन वसंत लीला के प्रसंग में विशेष रूप से हुआ है—

> नित्य धाम वृन्दावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रज-बाम॥
> नित्य रास, जल नित्य विहार। नित्य मान, खंडिताऽभिसार॥
> ब्रह्म-रूप येई करतार। करन हरन त्रिभुवन येइ सार॥
> नित्य कुंज-सुख नित्य हिँडोर। नित्यहिँ त्रिविध-समीर झकोर॥
> सदा वसत रहत जहँ वास। सदा हर्ष, जहँ नहीँ उदास॥
> कोकिल कीर सदा तहँ रोर। सदा रूप मन्मथ चित-चोर॥
> विबध सुमन वन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार॥
> नव पल्लव वन शोभा एक। विहरत हरि सँग सखी अनेक॥
> कुहू कुहू कोकिल सुनाई। सुनि सुनि नारि परम हरषाँई॥
> बार बार सो हरिहिँ सुनावतिँ। ऋतु वसंत आयौ समुझावतिँ
> फागु-चरित-रस साध हमारैँ। खेलहिँ सब मिलि संग तुम्हारे
> सुनि सुनि सूर स्याम मुसकाने। ऋतु वसंत आय हरषाने॥२८४३
> —'सूरसागर'—दशम स्कंध (दूसरा भाग) का० ना० प्र० सभा।

नित्यधाम वृन्दावन में वसंत सदा वास करता है। हर्ष छाया रहता है। कोकिल कीर सर्वदा रोर करते रहते हैं। मन्मथरूप चित्त को चुराते हैं। डालों पर विविध सुमन फूले रहते हैं, जिन पर अपार उन्मत्त भ्रमर भरमते फिरते हैं। नव-पल्लवों के कारण इस वन की शोभा सर्वदा बढ़ी रहती है। और ऐसे ही सुखधाम वृन्दावन में अनेक सखियाँ हरि के साथ विहार करने में तल्लीन रहती हैं। कोकिला उन्हें कुहू-कुहू सुनाती है तो इन नारियों का मन हर्ष से भर जाता है—और वसन्त का यह वातावरण इन युवती नारियों के मन में फाग खेलने की चाह उत्पन्न कर देता है।

मेघ, चपला, वर्षा-ऋतु आदि का वर्णन संयोग और वियोग—इस तरह दोनों प्रकार के रतिभावों के उद्दीपन के लिए हुआ है। सुख-विलास के निमित्त राधा और कृष्ण प्रथम बार काली घटाओं के सुन्दर वातावरण में मिलते हैं—

गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पवन-झकझोर, चपला-चमक चहुँ ओर, सुवन-तन चितै नँद डरत भारी॥
कह्यौ वृषभानु की कुँवरि सौं बोलि कै, राधिका कान्ह घर लिए जारी।
दोउ घर जाहु सँग, गगन भयौ स्याम रँग कुँवर-कर गह्यौ वृष भानु-वारी॥
गए बन घन ओर, नवल नंद-किसोर, नवल राधा, नए कुंज भारी।
अङ्ग पुलकित भए, मदन तिन तन जए, सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी॥
॥६८४॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (पहिला खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

घहराते गगन, काली घटाओं, झकझोर कर बहते हुए पवन और चमकती चपला के कारण दोनों के अङ्ग पुलकित हो गये।

तन में मदन जाग उठा और पवन से आलोड़ित सुभग यमुना के समीप वाले तथा नवीन द्रुमों से आच्छादित नये कुंजों में नया पीताम्बर और नई चूनरी धारण किए नवीन बूँदों में भीगते दोनों नवरस में विलास करने लगे।

कठिन ग्रीष्म ऋतु समाप्त हो गई तो वर्षा की हल्की फुहारों में हिंडोल-सुख जाग उठा।

""""वन वननि कोकिल कंठ निरवति, करत दादुर सोर।
घन घटा कारी, स्वेत बग-पंगति, निरखि नभ ओर॥
तैसीयै दमकति दामिनी, तैसोइ अंबर घोर।
तैसोइ रटत पपीहरा, तैसोइ बोलत मोर॥
तैसीयै हरियरि भूमि विलसति होति नहिं रुचि थोरि।
तैसीयै रंग सुरग विधि बधु, लेति है चित चोरि॥
तैसीयैं नन्ही बूँद बरषति, झमकि झमकि झकोरि।
तैसीयै भरि सरिता सरोवर, उमँगि चली मिति फोरि॥""

॥२८३०॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (दूसरा खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

और वर्षा-ऋतु के ऐसे सुन्दर और उपयुक्त वातावरण में विश्व-कर्मा के द्वारा निर्मित कंचन के खम्भ और बहुनग-जटित तथा बहु-रंगी पटली वाले हिंडोले पर गिरिराजधारी मोहन सखियों के साथ झूलने लगे। कभी झकझोर कर झोटे देने से प्यारी डर जाती है और प्रियतम के अङ्क में छिप जाती है।

संयोग के समान वियोग के समय भी सूर ने इन्हीं प्राकृतिक दृश्यों को अङ्कित कर समयानुसार उपयुक्त भूमिका उपस्थित की है। अन्तर केवल भावना का है। संयोग के समय जो प्राकृतिक दृश्य हृदय में पुलक का कम्पन उत्पन्न कर देते थे, वे ही अब वेदना का सागर छलका देते हैं।

ऐसौ जो पावस रितु प्रथम सुरति करि माधौ जू आवहिं।
बरन बरन अनेक जलधर, अति मनोहर वेप॥

तिहिँ समय सखि गगन सोभा, सबहिं तैं सुबिसेष।
उड़त खग बग वृन्द राजत, रटत चातक मोर॥
बहुत विधि चित रुचि बढ़ावत दामिनी घन घोर।
धरनि तन तृन रोम पुलकित, पिय समागम जानि॥
द्रुमनि बर बल्ली वियोगिनि मिलति पति पहिचानि।
हंस, सुक, पिक, सारिका, अलि गुंज नाना नाद।
मुदित मंडल मेघ बरषत, गत विहंग बिषाद॥
कुरज, कुंद, कदंब, कोविद, करनिकार सुकंज।
केतकी, करवीर, बेला, बिमल बहु विधि मंजु॥
सघन दल, कलिका अलंकृत, सुमन सुकृत सुबास।
निकट नैन निहारि माधौ, मन मिलन की आस॥
मनुज, मृग, पसु पँछि परिमित, और अमित जु नाम।
सुमिरि देस, विदेस परिहरि, सकल आवहिँ धाम॥
यहै चित्त उपाय सोचति, कछु न परत बिचार।
कौन हित ब्रज बास बिसरयौ, निकट नँद कुमार॥····

॥३३१४॥

तन मैं संताप भयौ, दुरयौ अनंद घरनि।
प्रेम पुलक वार चार, अँसुअन की ढरनि।
वै दिन जौ सुरति करौं, पाइनि की परनि।
सूर स्याम क्यौं विसारी, लीला वन करनि॥ ३३४४॥

—'सूरसागर'-दशम स्कंध (द्वितीय खंड का० ना० प्र० सभा।

वास्तव में, सूरदास के प्रकृति-वर्णन के चित्र अधिकाँश में कोमल हैं; मगर कतिपय पद ऐसे भी हैं, जिनमें प्रकृति का कठोर और भयानक रूप चित्रित हुआ है और वह भी मानव के मनोभावों के सर्वथा अनुकूल है। इस प्रकार के ये चित्र प्रसंगवश हैं और इनमें कृष्ण के अपरिमित शौर्य की रूपरेखा अंकित हुई है। श्रीकृष्ण के सुझाव देने पर एक वर्ष व्रजवासी पुरातन इन्द्र-पूजा करने के स्थान पर गोवर्धन की पूजा करते हैं और इन्द्र का कोप जाग उठता है—तो,

मेघ-दल-प्रवल व्रज-लोग देखै।
चकित जहँ-तहँ भए, निरखि वादर नए,
ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखैं।
ऐसे वादर सजल, करत अति महावल,
चलत घहरात करि अंधकाला।
चकित भये नंद, सव महर चकित भये,
चकित नर-नारि हरि करत ख्याला।
घटा घन घोर घहरात, अररात,
दररात, थररात व्रज लोग डरपे।
तडित-आघात तररात, उतपात सुनि,
नारि-नर सकुचि तन प्रान अरपे।
कहा चाहत होन, भई कवहूँ जौ न,
कवहुँ आँगन भौन विकल डोलैं।
मेटि पूजा इंद्र, नंद-सुत गोविंद,
सूर-प्रभु आनँद करि कलोलैं॥ ८५५॥

—'सूरसागर'-दशम स्कंध (प्रथम खंड) का० ना० प्र० सभा।

तिहिँ समय सखि गगन सोभा, सबहिँ तैँ सुबिसेष।
उड़त खग वग वृन्द राजत, रटत चातक मोर॥
वहुत विधि चित रुचि बढ़ावत दामिनी घन घोर।
धरनि तन तृन रोम पुलकित, पिय समागम जानि॥
द्रुमनि वर वल्ली वियोगिनि मिलति पति पहिचानि।
हंस, सुक, पिक, सारिका, अलि गुंज नाना नाद।
मुदित मंडल मेघ वरषत, गत विहंग बिषाद॥
कुरज, कुंद, कदंब, कोविद, करनिकार सुकंज।
केतकी, करवीर, वेला, विमल वहु विधि मंजु॥
सघन दल, कलिका अलंकृत, सुमन सुकृत सुबास।
निकट नैन निहारि माधौ, मन मिलन की आस॥
मनुज, मृग, पसु पँछि परिमित, और अमित जु नाम।
सुमिरि देस, विदेस परिहरि, सकल आवहिँ धाम॥
यहै चित्त उपाय सोचतिँ, कछु न परत विचार।
कौन हित व्रज वास विसरयौ, निकट नँद कुमार॥....
॥३३१४॥

—'सूरसागर' दशम स्कन्ध (दूसरा खण्ड) का० ना० प्र० सभा।

शरद् के सौन्दर्य का वर्णन सूर ने वर्षा के वाद वाले पदों में किया है। 'सूरसागर' में इस प्रकार के ये कुछ ही पद हैं, जिनमें विरहिणी गोपियों का दुख और आगे वढ़ जाता है। वर्षा बीत गई और 'भलो रितु सरद' आ गई। सरोवरों में नये-नये सरोज और कुमुदनियें फूल गईं। चारु चन्द्रिका की किरणें फूट पड़ीं—काली-काली घटाओं का तेज नष्ट हो गया, जल की काई दो-टूक होगई और सलिल स्वच्छ हो गया। सर-सरिता और सागर में उज्ज्वल और स्वच्छ जल दीख पड़ने लगा। आकाश निर्मल हो गया। लेकिन,

गोविंद विनु कौन हरै नैननि की जरनि।
सरद निसा अनल भई, चंद भयो तरनि॥

तन मैं संताप भयौ, दुरयौ अनंद घरनि।
प्रेम पुलक बार बार, अँसुअन की ढरनि।
वे दिन जौ सुरति करौं, पाइनि की परनि।
सूर स्याम क्यौं बिसारी, लीला बन करनि ॥ ३३४४ ॥

—'सूरसागर'–दशम स्कंध (द्वितीय खंड का० ना० प्र० सभा।

वास्तव में, सूरदास के प्रकृति-वर्णन के चित्र अधिकाँश में कोमल हैं; मगर कतिपय पद ऐसे भी हैं, जिनमें प्रकृति का कठोर और भयानक रूप चित्रित हुआ है और वह भी मानव के मनोभावों के सर्वथा अनुकूल है। इस प्रकार के ये चित्र प्रसगवश हैं और इनमें कृष्ण के अपरिमित शौर्य की रूपरेखा अंकित हुई है। श्रीकृष्ण के सुझाव देने पर एक वर्ष ब्रजवासी पुरातन इन्द्र-पूजा करने के स्थान पर गोवर्धन की पूजा करते हैं और इन्द्र का कोप जाग उठता है–तो,

मेघ-दल-प्रबल ब्रज-लोग देखै।
चकित जहँ-तहँ भए, निरखि बादर नए,
ग्वाल गोपाल उरि गगन पेखैं।
ऐसे बादर सजल, करत अति महाबल,
चलत घहरात करि अंधकाला।
चकित भये नंद, सब महर चकित भये,
चकित नर-नारि हरि करत ख्याला।
घटा घन घोर घहरात, अररात,
दररात, थररात ब्रज लोग डरपे।
तडित-आघात तररात, उतपात सुनि,
नारि-नर सकुचि तन प्रान अरपे।
कहा चाहत होन, भई कबहूँ जौ न,
कबहुँ आँगन भौन विकल डोलैं।
मेंटि पूजा इंद्र, नंद-सुत गोबिंद,
सूर-प्रभु आनँद करि कलोलैं ॥ ८५५ ॥

—'सूरसागर'–दशम स्कंध (प्रथम खंड) का० ना० प्र० सभा।

९

कल्पना

सूरदास की कल्पना-शक्ति असीम और अद्भुत है। इसीलिए 'सूरसागर' में ऐसे अनगिनती भाव चित्र अंकित हुये हैं, जिनमें सूर-दास की कल्पना की ऊँची उड़ान दर्शनीय है। 'सूरसागर' में वर्णित किसी भी विषय को ले लीजिये, उससे सम्बन्धित अनेक प्रकार के ऐसे अनेक चित्र आपके नेत्रों के सम्मुख घूम जायेंगे, जिनमें सूरदास की अनुपम कल्पना अपरिमित आकर्षण के साथ उपस्थित हुई दृष्टि-गोचर होगी। वास्तव में, अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति की सहायता से सूरदास ने 'उत्प्रेक्षाओं' और 'रूपकों की नवीनतम उद्भावना के द्वारा उसकी अनुरंजकता को व्यक्त करने में कुछ उठा नहीं रक्खा है—जिससे उनकी कल्पना के ये भाव-चित्र ऐसे अनुपम और शोभा-शाली हैं कि मन की एकाग्रता उनपर मुग्ध हुये बिना नहीं रह सकती।

बाल कृष्ण उनके इष्टदेव हैं। अपने इष्टदेव की छवि को व्यक्त करने के लिए सूरदास ने अनेक अद्भुत कल्पनाएँ की हैं। कृष्ण की दूध की दतुलियाँ सूर की कल्पना में 'कमल पर जमी हुई विद्युत' के समान हैं। श्याम का तन 'अभिराम नील जलद' तथा पद 'पंकज' और पदों की अरुणिमा 'बंधूक-सुमनों' जैसी ? कृष्ण के 'करुना-रस-पूरन' नेत्रों के लिए सूरदास ने 'जलजात' की कल्पना की है। जब यशोदा ऐसे शोभाशाली कृष्ण को पीत वस्त्र से ढक देती है तो सूर

की कल्पना में अभूतपूर्व सौन्दर्य-शालिनी उपमा का उदय होता है और वह कहते हैं—पीत वस्त्र से ढके हुये कृष्ण ऐसे प्रतीत होते हैं-मानों नीले जलद पर उडुगन देख कर तड़ितने अपना स्वभाव भूल उसे ढक लिया हो। मगर इस अद्भुत कल्पना से भी उनका सन्तोष नहीं होता और वह आगे चलकर कहते हैं—जिस छवि का वर्णन निगम नेति नेति कहकर करते हों, उसका वर्णन सूरदास किस प्रकार कर सकता है।

और कृष्ण के रूप का वर्णन और आगे बढ़ता है—तो सूरदास अपनी फलवती कल्पना की सहायता से नवीन नवीन उपमाओं का ढेर सा लगा देते हैं। दूध की दँतुलियों के लिये उनकी यह उपमा 'सुन्दरता के मदिर में जगमग जगमग करती हुई रूप-रतन की ज्योति' विलक्षण और सर्वोत्कृष्ट कही जा सकती है। उलूखल-बन्धन के दुख से दुखी हुये कृष्ण भी कवि की दृष्टि में सुन्दर हैं। कृष्ण के नेत्रों की छवि के साथ मिलकर उनके मुख के आँसू और माखन के कन ऐसे प्रतीत होते हैं—मानो, सुधानिधि उडुगन अवलि सहित मोतियों की वर्षा कर रहा हो। उनका श्यामल सजल शरीर यशोदा के हाथ की लकुटिया के डर से डर कर ऐसे डोलायमान हो रहा है-मानो, नील-नीरज-दल अलियों के कारण डोल रहा हो। श्याम के मुख की छवि शरद्-निशा के अनगिनती अंशु वाले चन्द्र की आभा को फीका कर देती है।........

इस प्रकार जैसे जैसे कृष्ण-रूप के प्रति सूरदास की भावना भावावेश में समाती चली गई है—वैसे वैसे ही उनकी कल्पना का रूप भी निखरता चला गया है और उसकी अनुरञ्जकता में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। मुरली-वादन के प्रसंग में उसकी गति और विविधिता देखने योग्य है। उस समय तो कृष्ण के अङ्ग अङ्ग की शोभा ऐसी है मानो, रवि उदय हो गया हो। जिसके सम्मुख शशि और स्मर लज्जित हो गए हैं। त्रिभँगी मुद्रा में खड़े हुए कृष्ण को देखकर गोपियाँ सोचने लगती हैं- मानो, अरुण कमल पर सुषमा विहार

कर रही हो। कटि तट पर बँधा हुआ पीत वसन ऐसा प्रतीत होता है, मानो, नव घनों को त्याग कर दामिनी सहज रूप से वहाँ पर उपस्थित हो गई है। आकाश में हँसों की पंक्ति के समान श्यामल शरीर पर कनक-मणि मेखला शोभायमान प्रतीत हो रही है......

कृष्ण की छवि के सम्मुख उपमायें हार मान कर बैठ रहीं। कोटि-कोटि मदन अपना बल खो बैठे और कुण्डल की किरणों के बीच रवि ने अपना मुख छिपा लिया। श्यामसुन्दर के सुन्दर मुख को देख कर गोपियाँ विचार करती हैं—नन्दनन्दन ने शशि का सत्व और सार छीन लिया है। हरि के चञ्चल नेत्रों की समता, खजन, मीन और मृग कर सकने में असमर्थ हैं। श्याम के चञ्चल लोचनों की अपरिमित सुन्दरता के सम्मुख उपमायें भी लजा जाती है।.......

इसी तरह सूरदास ने राधा और गोपियों के रूप का वर्णन भी बहुत चमत्कारपूर्ण ढङ्ग पर किया है। मरगजी पटोरी और उर-भुज पर फटी हुई नील-वर्ण कंचुकी से कुच-कोर प्रकट होकर ऐसी प्रतीत हो रही हैं—मानो, नवघन के बीच, थोड़ी रात रहे, रवि का रथ दिखलाई दे रहा हो। उरोजों पर पड़े नख-चिन्ह शिव-सिर के शशि के समान जान पड़ते हैं। रतनारे नयनों वाली आलसभरी कमनीय कामिनी जँभाई लेकर जब बाँहें ऊँची उठा कर जोड़ती और फिर अंगड़ाई लेती हुई उन्हें अलग अलग कर देती है तो ऐसा जान पड़ता है, मानो, दामिनी टूट कर दो टूक हो गई है।.......

रूप-चित्रण के समान ही कार्य व्यापार, वस्तु, गुण, स्वभाव और भाव-चित्रण में भी सूरदास की अद्भुत कल्पना अपना रूप सँवारे बैठी है। जहाँ पर भी उच्च एवं गम्भीर भावों को कवि प्रकट करता है, उसकी कल्पना सजग हो उठती है। कृष्ण जन्म के समय जब व्रज की नारियाँ आनन्द-विभोर हो सुन्दर-सुन्दर साज सजा कर सखियों के साथ अपने अपने घरों से निकल पड़ीं तो सूर की कल्पना को ऐसा जान पड़ा—मानो, लाल मुनैयों की पाँतें पिंजरे

तोड़ कर निकल चली हों। दस दस, पाँच पाँच, सखियाँ मिलकर जब मङ्गल-गीत गाने लगीं तो सूर को लगा—मानो, भोर होने पर रवि को देख कमल की कलियाँ विकसित हो गई हों। मिलकर नाचते हुए गोप-गण दही और हल्दी को इस प्रकार छिड़क रहे थे, जैसे भादों माँस की वर्षा से घी-दूध को नदी वह चली हो। कृष्ण घुटनों चलते हैं तो कनक भूमि पर कर-पग-छाया ऐसी प्रतीत होती है—मानो, वसुदा प्रति पद पर प्रति मणि में कमल की बैठकी सजा रही हो।

वस्तु-चित्रण में सूरदास को कल्पना के विकास के निमित्त बहुत ही कम अवसर हस्तगत् हो सके हैं। मगर जहाँ भी प्रसंगवश उन्हें मौक़ा मिला है, उन्होंने इस ओर की अपनी कसर को पूरा किया है। साथ ही इस बात का भी विशेष रूप से ध्यान रक्खा है कि वह भावात्मक होकर कृष्ण भक्ति समन्वित हो। वसन्त-वर्णन में वह कहते हैं—

कोकिल बोली, वन वन फूले, मधुप गुंजारन लागे।
सुनि भयौ भोर, रोर वंदिनि कौ, मदन-महीपति जागे॥
ते दूने अंकुर द्रुम पल्लव जे पहिले दव दागे।
मानहुँ रति-पति रीझि जाचकनि, बरन बरन दए बागे॥
नई प्रीति, नई लता, पुहुप नए, नयन नए रस पागे।
नए नेह, नव नागरि हरषित, सूर सुरंग अनुरागे॥२४४८॥
—'सूरसागर'-दशम स्कंध (दूसरा भाग) का० ना० प्र० सभा।

रास-नृत्य के प्रसंग में घन और दामिनि की उत्प्रेक्षा करते हुये सूरदास कहते हैं—हरि और ब्रज-कामनियाँ ऐसी शोभित हो रही हैं—मानो, घन-घन में दामिनि है, घन दामिनि के भीतर है और दामिनि घन के अन्दर!

गुण और स्वभाव चित्रण के अन्तर्गत् सूर ने कृष्ण, राधा, उद्धव और ब्रजनारियों के गुण और स्वभाव के चित्रण में अपनी कल्पना शक्ति का विशेष परिचय दिया है। इस सम्बन्ध में हम पीछे चरित्र चित्रण शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत् बहुत कुछ कह आये हैं। कृष्ण

कर रही हो। कटि तट पर बँधा हुआ पीत वसन ऐसा प्रतीत होता है, मानो, नव घनों को त्याग कर दामिनी सहज रूप से वहाँ पर उपस्थित हो गई है। आकाश में हँसों की पंक्ति के समान श्यामल शरीर पर कनक-मणि मेखला शोभायमान प्रतीत हो रही है ......

कृष्ण की छवि के सम्मुख उपमायें हार मान कर बैठ रहीं। कोटि-कोटि मदन अपना बल खो बैठे और कुण्डल की किरणों के बीच रवि ने अपना मुख छिपा लिया। श्यामसुन्दर के सुन्दर मुख को देख कर गोपियाँ विचार करती हैं—नन्दनन्दन ने शशि का सत्व और सार छीन लिया है। हरि के चञ्चल नेत्रों की समता, खजन, मीन और मृग कर सकने में असमर्थ हैं। श्याम के चञ्चल लोचनों की अपरिमित सुन्दरता के सम्मुख उपमायें भी लजा जाती है।........

इसी तरह सूरदास ने राधा और गोपियों के रूप का वर्णन भी बहुत चमत्कारपूर्ण ढङ्ग पर किया है। मरगजी पटोरी और उर-भुज पर फटी हुई नील-वर्ण कंचुकी से कुच-कोर प्रकट होकर ऐसी प्रतीत हो रही हैं—मानो, नवघन के बीच, थोड़ी रात रहे, रवि का रथ दिखलाई दे रहा हो। उरोजों पर पड़े नख-चिन्ह शिव-सिर के शशि के समान जान पड़ते हैं। रतनारे नयनों वाली आलसभरी कमनीय कामिनी जँमाई लेकर जब बाँहें ऊँची उठा कर जोड़ती और फिर अंगड़ाई लेती हुई उन्हें अलग अलग कर देती है तो ऐसा जान पड़ता है, मानो, दामिनी टूट कर दो टूक हो गई है।........

रूप-चित्रण के समान ही कार्य व्यापार, वस्तु, गुण, स्वभाव और भाव-चित्रण में भी सूरदास की अद्भुत कल्पना अपना रूप सँवारे बैठी है। जहाँ पर भी उच्च एवं गम्भीर भावों को कवि प्रकट करता है, उसकी कल्पना सजग हो उठती है। कृष्ण जन्म के समय जब ब्रज की नारियाँ आनन्द-विभोर हो सुन्दर-सुन्दर साज सजाकर सखियों के साथ अपने अपने घरों से निकल पड़ीं तो सूर की कल्पना को ऐसा जान पड़ा—मानो, लाल मुनैयों की पाँतें पिंजरे

तोड़ कर निकल चली हों। दस दस, पाँच पाँच, सखियाँ मिलकर जब मङ्गल-गीत गाने लगीं तो सूर को लगा—मानो, भोर होने पर रवि को देख कमल की कलियाँ विकसित हो गई हों। मिलकर नाचते हुए गोप-गण दही और हल्दी को इस प्रकार छिड़क रहे थे, जैसे भादों माँस की वर्षा से घी-दूध की नदी वह चली हो। कृष्ण घुटनों चलते हैं तो कनक भूमि पर कर-पग-छाया ऐसी प्रतीत होती है—मानो, वसुदा प्रति पद पर प्रति मणि में कमल की बैठकी सजा रही हो।

वस्तु-चित्रण में सूरदास को कल्पना के विकास के निमित्त बहुत ही कम अवसर हस्तगत् हो सके हैं। मगर जहाँ भी प्रसंगवश उन्हें मौक़ा मिला है, उन्होंने इस ओर की अपनी कसर को पूरा किया है। साथ ही इस बात का भी विशेष रूप से ध्यान रक्खा है कि वह भावात्मक होकर कृष्ण भक्ति समन्वित हो। वसन्त-वर्णन में वह कहते हैं—

कोकिल बोली, वन वन फूले, मधुप गुँजारन लागे।
सुनि भयौ भोर, रोर वंदिनि कौ, मदन-महीपति जागे॥
ते दूने अंकुर द्रुम पल्लव जे पहिले दव दागे।
मानहुँ रति-पति रीझि जाचकनि, वरन वरन दए वागे॥
नई प्रीति, नई लता, पुहुप नए, नयन नए रस पागे।
नए नेह, नव नागरि हरषित, सूर सुरँग अनुरागे॥२४४८॥
—'सूरसागर'-दशम स्कंध (दूसरा भाग) का० ना० प्र० सभा।

रास-नृत्य के प्रसंग में घन और दामिनि की उत्प्रेक्षा करते हुये सूरदास कहते हैं—हरि और व्रज-कामनियाँ ऐसी शोभित हो रही हैं—मानो, घन-घन में दामिनि है, घन दामिनि के भीतर है और दामिनि घन के अन्दर!

गुण और स्वभाव चित्रण के अन्तर्गत् सूर ने कृष्ण, राधा, उद्धव और व्रजनारियों के गुण और स्वभाव के चित्रण में अपनी कल्पना शक्ति का विशेष परिचय दिया है। इस सम्बन्ध में हम पीछे चरित्र चित्रण शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत् बहुत कुछ कह आये हैं। कृष्ण

मथुरा चले जाते हैं–तो, पीछे कृष्ण के स्वभाव का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं—नंदनंदन तो ऐसे जान पड़े जैसे जल के भीतर पुरइन के पात ! राधा की महिमा को व्रज के लोग नहीं जानते–इसीलिये उसका उपहास करते हैं; मगर राधा के पक्ष को सूरदास दृष्टान्त देकर समझाते हैं--रवि के तेज को उल्लू नहीं जानता। विष का कीड़ा विष में ही प्रसन्न रहता है, वह सुधा को क्या जाने ! तिल के तेल का खाने वाला घृत के सवाद को क्या जाने ?

भाव-चित्रण में सूरदास ने कल्पना की सहायता से मनोभावों को अधिक स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है इसीलिये गहन से गहन भाव सुस्पष्ट हो गये हैं। ग्वालिनों के छलकते हुये प्रेम की उपमा मटकी से छलकते हुए दही से देकर सूरदास इस गहन और गूढ़ भाव को पाठक के मन में सरलतापूर्वक उतार देते हैं। कृष्ण के प्रति अपने प्रेम के सम्बन्ध में कहती हुई गोपी कहती है—अब तो यह बात वट बीज के समान चारों ओर फैल गई। घर-घर में नित्य यही चर्चा रहती है। प्रत्येक के मुँह से यही वाणी निकलती है। लोक-लाज बिसार कर मैंने तो सब कुछ सह लिया। अब तो मैं मदमाते हाथी के समान प्रेम के मद में माती फिरती हूँ। जल में भीगी हुई रस्सी की गाँठ के समान रसना में हरि-रट की गाँठ लग गई है, जो बार-बार झटकने से भी नहीं खुल सकती।........

कृष्ण की विरहिणी गोपियों के मन में काम-पावक जलती है—तथा विरह-श्वास से वह प्रदीप्त होती है; मगर लोचनों से निकलने वाले नीर के कारण वे भस्म नहीं हो पाती हैं।

इस प्रकार सूरदास की कल्पना-शक्ति द्वारा निर्मित ये भाव-चित्र हिन्दी-साहित्य ससार में बे जोड़ हैं—और उनकी कल्पना-शक्ति असीम और अद्भुत !

१०

अलंकार

सूरदास भावना प्रधान व्यक्ति थे। उनकी कविता में जो-कुछ भी है—भावों के उत्कर्ष को प्रगट करने के लिए ही ? इसीलिए उनकी कविता स्वाभाविक, सजीव और रसभरी है। विविध अलंकारों का प्रयोग भी उन्होंने भाव, गुण। रूप और क्रिया-कलापों का उत्कर्ष स्पष्ट करने के लिए ही किया है। रूपक उपमा, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि इने गिने अलंकारों के प्रति हीं उनका अधिक ममत्व है—इनके अतिरिक्त उनकी कविता में अन्य अलंकारों का उपयोग अनायास ही हुआ दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में, अलंकारों का उपयोग सूरदास ने वस्तु-वर्णन की कमी को पूरा करने के लिए किया है—न कि केशव की भाँति अपने पांडित्य को प्रगट करने के लिए ? इसीलिए उनके भावों की शोभा इन अलंकारों का सग पाकर द्विगणित हो उठी है।

सूर-काव्य में से उनके प्रिय अलंकारों के कतिपय उदाहरण हम नीचे दे रहे हैं—

(१) रूपक—

ऊधौ करि रहीँ हम जोग।
कहा एतौ वाद ठान्यौ, देखि गोपी भोग॥
सीस सेली-केस, मुद्रा, कान-वीरी वीर।

सूरदास ने अपनी कविता तथा काव्य की भाषा को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ साथ पारसी, अवधी, पंजाबी आदि के शब्दों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ संस्कृत के कतिपय तत्सम शब्द निम्नलिखित हैं—

तत्सम शब्द—सुरराज, अस्त्र, पराग, मेघ, मुकुलित, मधुपआदि।

तद्भव शब्द—खतियाना, चेटक, चरणन, लोभित, धगरी, बिजुकना, छमवाना आदि

पारसी भाषा के शब्द

जवाब, सजैया (सजा), सरताज, जहाज, दामनगीर, ख्याल आदि।

अवधी भाषा के शब्द

खोइस, सोइस, होइस, आदि!

पंजाबी भाषा के शब्द—प्यारी आदि

प्राकृत के सायर आदि शब्दों का प्रयोग भी सूरदास ने किया है। पारसी आदि भाषाओं के शब्दों को उन्होंने उनके तद्भव रूप में ही प्रयोग किये हैं। वास्तव में, सूर काव्य में इन सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों की ही भरमार है। छन्द की गति को नियम में रखने की दृष्टि से कहीं कहीं उन्होंने शब्दों को तोड़-मरोड़ कर भी प्रयोग किया है—जैसे, केतु को केत और शब्दों को इस प्रकार तोड़-मरोड़ कर प्रयोग में लाना आचार्यों की दृष्टि में कवि के लिए क्षम्य है—क्योंकि इससे भाषा की व्यवहारिकता नष्ट नहीं हो पाती।

यह हम पहिले ही कह आये हैं कि सूर-काव्य की भाषा प्रवाहमयी और सजीव है। उनकी कविता को धारावाहिक रूप से पढ़ते ले चजाइये, उसमें गतिहीनता नहीं, कहीं रोक नहीं—मानो, उनकी

कविता में शब्द-चयन स्वयमेव होगया है। शब्दों के प्रयोग के लिए सूर को सोचना नहीं पड़ा है। यथा—

ब्रज के लोग उठे अकुलाइ।
ज्वाला देखि अकास बराबरि दसहु दिसा कहुँ पार न पाइ। ....

× × × ×

यह छवि राधिका भूली। बात कहति सखियनिसौं फूली॥
आपुहि देवा, आपु पुजेरी। आपुहिं जेंवत भोजन-ढेरी॥........

भाषा में सजीवता उत्पन्न करने के लिए उन्होंने मुहावरों और लोकोक्तियों का उपयोग किया है—इसीलिये सूर-काव्य' के कथानक तथा विचार जीवन से युक्त जान पड़ते हैं। रूप-चित्र सजीव हो उठे हैं—

कहन लगीं अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ, तनकहिं माखन खात॥
अब मोहिं माखन देतिं मँगाए, मेरैं घर कछु नाहिं।
उरहन कहि-कहि साँझ सवारैं, तुमहिं बँधायौ याहि॥
रिस ही मैं मोकौं गहि दीन्हौ, अब लागीं पछितान।
सूरदास अब कहति जसोदा, बूझ्यौ सबकौ ज्ञान॥ ३५५॥
—'सूरसागर'— दशम स्कंध (पहिला खंड) का० ना० प्र० सभा।

सूरदास का शब्दों और अक्षरों पर अपरिमित अधिकार है। उनकी कविता को पढ़ते समय ऐसा ज्ञात होता है—मानो, शब्द उनके चेरे हैं' जो सर्वथा उनके पीछे पीछे चलते हैं और सूरदास की आज्ञा के सम्मुख वे नत-मस्तक हैं। यही कारण है जो सूरदास अपनी विनोदी प्रकृति के कारण कहीं-कही शब्दों के साथ क्रीड़ा सी करते जान पड़ते हैं—

धनि धनि भाग, धनि धनि री सुहाग,
धनि अनुराग, धनि धन्य कन्हाई!

धनि धनि रैनि, धनि धनि दिन जैसो आज,
धनि घरी, धनि पल, धनि धनि माई।

सूरदास ने अपनी कविता की रचना गेय पदों में की है। रचना करने की यह शैली परम्परागत् है। सामवेद में इसी शैली के अन्तर्गत् लिखे हुये गीत मिलते हैं। मगर सूरदास को यह शैली जयदेव गोवर्धनाचार्य- विद्यापति और कबीर से प्राप्त हुई। इस सम्बन्ध में श्री मुन्शीराम शर्मा 'सोम' 'सूर सौरभ' (द्वितीय भाग) के पृष्ठ ६ पर लिखते हैं –'हाँ, कबीर आदि सन्तों की वाणी का सूर-काव्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उनके विनय सम्बन्धी पद आचार्य वल्लभ से ब्रह्म सम्बन्ध प्राप्ति के पूर्व ही लिखे जा चुके थे। इन पदों में सन्तों की पदावली का प्रतिबिम्ब प्रचुर मात्रा में है। वैसे ही शब्द वैसी ही भाव धारा, वैसा ही विन्यास—जैसा निर्गुण पन्थ की रचनाओं में हैं—सूर की इन पूर्वकालीन कृतियों में उपलब्ध होता है। इन पदों में बाहर नहीं, आत्मा को अन्दर ढूँढ़ने का विधान है। प्रभु के साथ सख्य भाव का नहीं, दास्य एवं दैन्य भाव का चित्रण है। हरि की शाश्वतलीला नहीं, उसकी महिमा और ऐश्वर्य का वर्णन है। परन्तु यह सूरदास की पूर्वकालीन कृतियों के संबन्ध में ही कहा जा सकता है। महाप्रभु वल्लभ से दीक्षित होने के उपरान्त सूर के मानस से जो काव्यधारा प्रवाहित हुई वह एकदम दूसरी दिशा की ओर मुड़ गई। यह धारा जितना अधिक जयदेव और विद्यापति से मेल खाती है, उतना अन्य कवियों से नहीं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सूर ने जयदेव और विद्यापति का अन्धानुकरण किया है। उसकी अपनी मुद्राओं की विशेषताओं की मुद्रा सूरसागर के प्रत्येक पृष्ठ पर लगी है। जयदेव और विद्यापति से उसने शृंगारी भावना और कोमलकान्त पदावली अवश्य ली है, पर उनको भी उसने अपने रंग में रंगा है। सूर की रचना में जो व्यंग्य

सजीवता, स्वाभाविकता, चित्रमयता एवं भाव-गाम्भीर्य पद-पद पर प्राप्त होते हैं, वे विद्यापति में कहाँ ? जयदेव में कहाँ ? यहाँ सूर सबसे पृथक खड़ा है । उसका मातृहृदय का चित्रण संयोग एवं विप्रलम्भ शृंगार के नाना मनोरमरूप, बाललीला के मनोमुग्धकारी दृश्य अन्यत्र कहाँ दृष्टिगोचर होते हैं । सूर की सूक्ष्म संकेत प्रणाली तो अन्य कवियों में खोज करने से मिलेगी ।'

वास्तव में यह इस शैली के कारण ही है कि सूर आत्माभिव्यंजन इतने उत्कृष्ट और सुन्दर रूप में कर सके हैं । उनके मन की ...क मौज उनके काव्य में सजीव रूप में दृष्टिगोचर होती है । सूर-काव्य में गायकों के लिये राग-रागनियों का खजाना भरा पड़ा है । उनके पदों में उनका व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्ण जीवनी शक्ति, प्रतिभा और सजगता के साथ प्रगट हुआ है । उनकी कल्पना और भावना का सामंजस्य अपने सुन्दरतम रूप में लिपिबद्ध हुआ दृष्टिगोचर होता है । उनकी कविता में प्रौढ़ता, लालित्य, प्रवाह और प्रसाद का ओज दीख पड़ता है । माधुर्य से ओत-प्रोत संगीत की चल लहरी प्रवाहित हो-सकी है ।

यही कारण है जो साहित्यकाश में सूर-सूर हैं और तुलसी शशि वास्तव में, सूर ही एक मात्र कवि हैं जो काव्य और संगीत का ऐसा सच्चा समन्वय कर-सकने में पूर्णरूपेण सफल हुए हैं । इस सम्बन्ध में श्री शिखर चन्द जैन 'सूर एक अध्ययन' में सूर और तुलसी की तुलना करते हुये लिखते हैं—

'जहाँ तुलसी की संस्कृत पदावली संगीत के माधुर्य को किन्हीं अंशों में कम कर देती है, वहाँ सूर की प्रकृत रूप से प्रसवित होने वाली शब्द लहरी स्वाभाविकता, सादगी' अल्हड़पन और प्रसाद को समान रूप से लिये हुये आगे बढ़ती है । तुलसी के अनावश्यक रूप से प्रयुक्त बड़े बड़े रूपक भी संगीत लहरी में अवरोध उपस्थित करते हैं, पर सूर के रूपक छोटे, आवश्यक, फबते हुये,

सरल, आकर्षक और संगीत के लिए उपयुक्त हैं। इसीलिए तुलसी संगीत का वह माधुर्य न ला सके जो उसका शृंगार है। ऐसा करने में सूर समर्थ हो सके हैं। उन्होंने संगीत की स्वर-लहरी को सरलता भावुकता, प्रवणता और दक्षता के साथ प्रवाहित किया है।

दरअसल सूर को गीतकाव्य की शैली और संगीत का पूर्ण ज्ञान था—इसीलिए उनकी कविता में शैली और संगीत दोनों ही अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ प्रस्फुटित हुये दृष्टिगोचर हुये हैं।

———